भारत के देशी राष्ट्र।

सम्पूर्णानन्द बी० एस-सी०, एल० टी.

प्रकाशक—

'प्रताप' कार्य्यालय,

कानपुर।

भारत के देशी राष्ट्र

लेखकः—

धर्म्मवीर गान्धी, महाराज छत्रसाल,

भौतिक विज्ञान, ज्योतिर्विनोद के

रचयिता

श्रीयुत सम्पूर्णानन्द बी० एस-सी०, एल० टी०,

[अध्यापक, डेली कालेज,

प्रकाशकः—

'प्रताप' कार्य्यालय,

कानपुर ।

प्रथम संस्करण, २००० } १९१८ ई० { मूल्य, बारह आने

विषय सूची।

भूमिका।

आज कल जबकि भारत में चारो ओर राजनैतिक जागृति हो रही है और राजनैतिक प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, देशी राष्ट्रों का विषय भी अत्यन्त रोचक प्रतीत होता है इनका हमारे साथ इतना घना सम्बन्ध है कि हम इनको छोड़ नहीं सकते। यद्यपि ये राष्ट्र ब्रिटिश शासन के बाहर हैं पर इनकी जनता ब्रिटिश भारत की जनता के साथ चिरकाल से अत्यन्त सुदृढ़ धार्म्मिक, नैतिक और सामाजिक तन्तुओं से बँधी हुई है। इनमें से कई का भारत के इतिहास में बड़ा उच्च स्थान है; कई के नरेशों की वंशावलियाँ उन्हें राम-कृष्णादिक के वंशज बतला कर उनको हमारे लिये श्रद्धेय बनाती हैं; और सभी, थोड़ा या अधिक, हम को उस प्राचीन भारतीय सभ्यता की झलक दिखलाते हैं जो पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण के पहिले विद्यमान थीं।

यह सब होते हुए भी हमको इनकी परिस्थिति का बहुत कम ज्ञान है। एक तो बड़े २ लेखकों ने भी इस विषय को सन्तोष-जनक रीति से निर्णीत नहीं किया-यदि चार पुस्तकें उठाली जायँ तो उनमें चार प्रकार के विचार मिलेंगे। इस में उनका दोष नहीं है। विषय स्वयं बड़ा कठिन है। दूसरे, हम लोग भी बहुधा इस पर विचार नहीं करते। या तो हम देशी नरेशों की परिस्थिति अत्यन्त ऊंची मान लेते हैं और समझते हैं कि अपने २ राज्य में ये जो चाहें सो कर सकते हैं या उसको अत्यन्त हीन मान लेते हैं और समझते हैं कि बिना अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट की आज्ञा के ये कुछ भी नहीं कर सकते। दोनों कल्पनाएं भ्रमात्मक हैं। वस्तुतः इनकी परिस्थिति इन दोनों के बीच में है। पर सब रियासतें एक ही कक्षा में नहीं रक्खी जा सकतीं। कुछ रियासतें ऐसी

हैं जिनकी अवस्था हमारी पहिली कल्पना से मिलती जुलती है और बहुत सी ऐसी भी हैं जो हमारी द्वितीय कल्पना के ही अनुकूल-प्राय हैं।

यह बड़ा रोचक प्रश्न है कि ये अपनी वर्तमान स्थिति में पहुंचे कैसे ? इस पुस्तक में मैंने उस क्रम को दिखलाने का प्रयत्न किया है जिससे कि धीरे २ देशी राष्ट्र पूर्ण स्वातन्त्र्य से गिरते २ अपनी आधुनिक अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इस क्रम का समझना कुछ कठिन नहीं है। इसका मूलमन्त्र वही है जो इधर लगभग एक सहस्र वर्षों से भारत के इतिहास में व्यापक हो रहा है—अर्थात् परस्पर द्वेष, अनैक्य, स्वार्थपरता। जैसा गिरिधरदास जी कहते हैं-"बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय," भूत काल पर क्रन्दन करना व्यर्थ है। हमारा कल्याण इसी में है कि अपनी गत भूलों से शिक्षा ग्रहण करें और यत्न करके अपने बीच से उस अनैक्य रूपी महाप्रेत को निकाल दें जो हमारे सारे कामों को शताब्दियों तक चौपट करता रहा है।

इस समय केवल लड़ाइयों का वृत्तान्त जान लेना पर्य्याप्त न होगा। इससे अधिक आवश्यकता यह जानने की है कि उन लड़ाइयों के पीछे सन्धियां किस प्रकार की हुईं। इन सन्धिपत्रों से ही हमको उन बन्धनों का पता चलता है, जिन्हों ने इन राष्ट्रों के स्वातन्त्र्य को परिमित कर रक्खा है और इन्हीं के आधार पर हम राष्ट्रों के अधिकारों और कर्तव्यों का अनुमान कर सकते हैं। इन अधिकारों और कर्तव्यों की अभी तक कोई प्रामाणिक तालिका नहीं बनी है और न उसके बनने की कोई आशा है। गवर्नमेण्ट ने और स्वयं रियासतों ने इस विषय को जान बूझकर अनिश्चित रूप में रक्खा है। मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसके लिये

मुझे विशेष सहायता दो पुस्तकों से मिली है, एक तो 'दि नेटिव स्टेट्स आव इण्डिया' (The Native states of India by sir William Lee-Warner) और दूसरी, 'एचसंस-ट्रीटीज़' (Treaties, Engagements and Sanads, collected by Sir Charles Aitchson.)

देशी राष्ट्रों के विषय में निश्चित रूप से कुछ लिखना कितना कठिन है, यह इसी बात से प्रतीत हो जाता है कि उनकी संख्या ही ६८० के लगभग है। (यहां पर बलूचिस्तान और बर्म्मा की रियासतें और नैपाल को छोड़कर संख्या लिखी गई है) ये राष्ट्र भारत के उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और मध्य भाग में सर्वत्र ही फैले हुए हैं। कहीं २ तो बड़े २ राज्य स्वयं सहस्रों वर्ग मील तक चले गये हैं और कहीं २ कई और राज्यों के समूह दूर तक विस्तृत हैं, पर भारत का ऐसा कोई भाग ही नहीं है जहां एक या दो रियासतें न हों, इन राष्ट्रों ने ब्रिटिश भारत को कई टुकड़ों में बाँट रक्खा है। यदि कोई बम्बई से सिंध जाना चाहे तो उसे कोसों तक गुजरात और काठियावाड़ के राज्यों को पार करना होगा। इसी प्रकार सिंध और बङ्गाल या संयुक्त प्रान्त और मध्यप्रदेश के बीच में राजपूताना और मध्यभारत के राज्य पड़ते हैं। कहीं २, जैसे झाँसी में, अंग्रेज़ी गाँव से दूसरे अंग्रेज़ी गाँव तक जाने में कई राज्यों के गांव आ पड़ते हैं।

इनका संयुक्त विस्तार ६७५,२६७ वर्गमील अर्थात् १६८,८१७ वर्गकोस है। ब्रिटिश भारत का विस्तार लगभग ११ लाख वर्गमील है। इससे इनके आपेक्षिक विस्तार का अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रों की जनसंख्या लगभग ७ करोड़ और बृटिश भारत की जनसंख्या लगभग २५ करोड़ है। इसका तात्पर्य्य यह हुआ

कि देशी राष्ट्रों का विस्तार तो ब्रिटिश भारत के आधे से कुछ अधिक है पर उनकी जनसंख्या ब्रिटिश भारत की जन-संख्या की चौथाई के बराबर है। इसका प्रधान कारण यह है कि राष्ट्रों की भूमि प्रायः उतनी उर्बरा नहीं है जितनी कि ब्रिटिश भारत की है, उनके भाग्य में विशेषतः जङ्गल, पहाड़ और मरुस्थल ही आये हैं। इनकी सेनाओं में सब मिला कर कई सहस्र सिपाही और कई सौ तोपें हैं और इनकी प्रजा में राजपूत, सिक्ख, डोगरा, गढ़वाली, मरहठा, जाट, पठान आदि वे सभी जातियां हैं जिन से ब्रिटिश सेना के लिये सैनिक लिये जाते हैं। यह एक बड़ा रोचक प्रश्न है कि जब भारत का अधिकांश अंग्रेज़ी शासन में चला गया तो एक इतना बड़ा और महत्त्व-पूर्ण टुकड़ा भारतीय शासन में ही कैसे रह गया। साथ ही, आज कल जो राजनैतिक समस्याएं हमारे सामने उपस्थित हैं उनमें इन राष्ट्रों का स्थान बड़ा गौरवपूर्ण है। हमारे नेताओं का ध्यान इस ओर जाने लगा है और अंग्रेज़ भी इस विषय की ओर आकर्षित हो रहे हैं। स्वयं देशी राष्ट्रों में भी इन प्रश्नों पर विचार होने लगे हैं। यह परिवर्तन का समय है और यह असम्भव है कि देशी राष्ट्र परिवर्तन-चक्र के बाहर रह जाँय। इस लिये सब बातों पर ऐतिहासिक, राजनैतिक और नैतिक दृष्टि से विचार करना परमावश्यक है। मैं आशा करता हूं कि यह छोटी सी पुस्तक इस सम्बन्ध में उपयोगी होगी।

मैंने ऊपर अपने दो मुख्य आधार ग्रन्थों का नाम दे दिया है। इनके अतिरिक्त और जिन पुस्तकों से सहायता मिली है उनका नाम स्थान २ पर पुस्तक में दे दिया गया है।

इन्दौर,
फाल्गुण कृ० ६, १९७४। } सम्पूर्णानन्द।

हमारे देशी राष्ट्र।

राष्ट्र किसे कहते हैं ?

इस पुस्तक के नाम से ही यह बात स्पष्ट है कि यहां पर 'राष्ट्र' शब्द अंग्रेज़ी State शब्द के स्थान में लिखा गया है। इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि कभी २ राष्ट्र शब्द 'जाति' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जाति का अंग्रेज़ी पर्य्याय 'Nation' है, और State शब्द का सरल हिन्दुस्तानी पर्य्याय, 'सर्कार' है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि 'जाति' और 'सर्कार' शब्द का अर्थ एक नहीं है। किसी देश की जनता की सामाजिक बातों पर ध्यान रखते हुए 'जाति' शब्द का प्रयोग होता है और राजनैतिक बातों पर ध्यान रखते हुए 'सर्कार' शब्द का। अस्तु, यहां पर 'राष्ट्र' शब्द इसी 'सर्कार' वाले अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन देशी राष्ट्रों के लिये हिन्दी में प्रायः 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द इनके लिये सुसंगत है, परन्तु साधारणतया State के लिये राष्ट्र शब्द ही उचित है क्योंकि States अनेक प्रकार की होती हैं। कई ऐसी हैं जिनमें पूर्ण अधिकार प्रजा के हाथों में है, कई में राजा और प्रजा के बीच में अधिकार बँटा हुआ है। और किसी २ में राजा ही पूर्ण अधिकारी है। यद्यपि हमारे यहां इसी तृतीय श्रेणी की स्टेट्स ही वर्त-

मान हैं जिनके लिए राज्य शब्द सर्वथा ठीक है, फिर भी व्यापकार्थवाची 'राष्ट्र' शब्द ही अच्छा समझा गया है।

अब हमको इस 'राष्ट्र' शब्द के ठीक २ अर्थ पर विचार करना चाहिए। राष्ट्र या सर्कार उन शब्दों में से है जिनका प्रयोग बहुत होता है, पर जिनका अर्थ बहुत कम समझा जाता है। साधारणतः लोग उस संस्था को (चाहे वह एक व्यक्ति हो या व्यक्तियों का समूह) सर्कार कहते हैं जो देश का शासन करती है, जिसके हाथ में अधिकार होता है। ऐसी अवस्था में यह भी एक आवश्यक प्रश्न है कि यह अधिकार आया कहाँ से, अर्थात् जिसको सर्कार कहते हैं उसको यह अधिकार किसने दिया ?

आज से कुछ काल पहिले, प्रायः सभी देशों में एक व्यक्ति विशेष (चाहे वह राजा, बादशाह, सम्राट, आदि कुछ भी कहलाता हो) के हाथ में ही सारा अधिकार होता था। उसने यह अधिकार या तो अपने पूर्वजों से पाया था (अर्थात् उनकी गद्दी पर बैठा था) या लड़भिड़ कर उसने स्वयं उपार्जित किया था। उसके पीछे उसके अधिकार उसके लड़के या अन्य निकटतम सम्बन्धी को मिलते थे। यही नियम अब भी राज्यों में देखा जाता है। ऐसी अवस्था में यह विश्वास जम गया था कि राजा को ईश्वर की ओर से अधिकार मिलता है। इस विश्वास की वृद्धि से राजाओं को लाभ था क्योंकि किसी को यह साहस न होता था कि ईश्वर के प्रतिनिधि का विरोध करे ? इसी लिये राजा लोग प्रयत्न कर के प्रजा में इस भाव को दृढ़ करते थे। यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः ईश्वर समस्त अधिकारों का स्रोत है और जब तक राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करता है तब

तक उसको ईश्वर का प्रतिनिधि भी मान सकते हैं। इस दृष्टि से ऐसे राजाओं के लिये यह कह सकते हैं कि 'सर्व देवमयो नृपः' परन्तु वे राजा गण इस अर्थ में अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं कहा करते थे। प्रतिनिधि अयोग्य होने से बदला जा सकता है, परन्तु राजा लोग अपने को अटल मानते थे। वे यह मानने के लिये प्रस्तुत नहीं थे कि किसी को उनके कृत्यों की समालोचना करने का अधिकार है। इसी गर्व में फूल कर फ्रांस के बादशाह चौदहवें लुई (Louis. XIV) ने कहा था, L'etat, C'est moi' "राष्ट्र, मैं राष्ट्र हूं"।

यह सिद्धान्त पृथ्वी के बहुत से देशों में बहुत दिनों तक चलता रहा। इसके अतिरिक्त अन्य सिद्धान्त भी थे पर व्यवहारिक दशा में प्रायः इसी के अनुसार काम होता रहा। परन्तु ईसा की अट्ठारहवीं शताब्दी में यह अवस्था पलटी। उस समय फ्रांस की राजनैतिक दशा बड़ी ही बुरी हो रही थी। प्रजा को मदान्ध राजाओं और लोलुप कर्म्मचारियों ने पागल बना दिया था। चारों ओर अशान्ति फैल रही थी। ऐसे समय में रोसो (Rousseau) नामक विद्वान् ने अपना सिद्धान्त एक पुस्तक में निरूपित किया। इसका अत्यन्त प्रभाव पड़ा। थोड़े ही दिनों में शासन का सूत्र राजवंश के हाथ से छिन गया, अन्तिम बादशाह को प्राण-दण्ड मिला और फ्रांस का प्रबन्ध प्रजा के हाथ में आ गया। रोसो के इस सिद्धान्त को 'ले कण्ट्रेट सोशल' (Le Contrat social) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्ति (एक या अधिक) ऐसे होते हैं जो शासन-सम्बन्धी काम करते हैं, इनको इसके लिये ईश्वर की ओर से अधिकार नहीं मिला है, प्रत्युत स्वयं प्रजा ने उस अधिकार को उन्हें

दे रक्खा है। यह असम्भव है कि जनता का प्रत्येक व्यक्ति शासन-कार्य्य में योग दे सके। न तो सबके पास इतना समय होता है और न इतनी योग्यता। इस लिये कुछ व्यक्तियों को यह काम सौंप दिया गया है। उनको इसके लिये अधिकार दे दिया गया है और जो कुछ धन, सम्मान आदि वे पाते हैं वह एक प्रकार से उनका वेतन या मज़दूरी है। यह एक प्रकार का ठेका हो गया। कुछ लोग इस बात का ठेका लेते हैं कि हम देश का शासन अच्छी भाँति करेंगे। प्रजा इसके पारितोषक में उनको प्रतिष्ठा, धन, अधिकार आदि देती है। रोसो के सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार का ठेका स्पष्ट नहीं पर अस्पष्ट रूप से शासकों और प्रजा के बीच में सर्वत्र ही हुआ है। इस लिये यदि शासन-कर्ता अपना काम योग्यता से न करे तो प्रजा को अधिकार है कि वह उस से सारी प्रतिष्ठा, धन, अधिकार आदि छीन ले और अन्य शासक नियत करे, अर्थात् प्रजा यदि उचित समझे तो वह अपने शासकों (वे राजा बादशाह कोई भी हों) को बदल सकती है।

यदि विचार करके देखा जाय तो रोसो का यह सिद्धान्त अयुक्त नहीं है। देश का समुचित शासन शासित प्रजा की इच्छा के विरुद्ध नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि अविद्या, आलस्य, विषय-परता आदि के कारण कहीं २ प्रजा अपने लाभालाभ का विचार न कर सकती हो या न करती हो, परन्तु इस से उस के अधिकार का लोप नहीं हो सकता। वह सदैव अपने शासकों से पूछ सकती है कि तुम शासन इस प्रकार क्यों करते हो और उन को वह मार्ग बतला सकती है जिस पर कि वह शासन को चलाना चाहती है। यदि उस

समय शासक लोग उस की बात पर ध्यान न देकर उस को बलपूर्वक दबाना चाहें तो वह अपनी उस शक्ति का, जो उन को प्रजा से ही प्राप्त है, कुप्रयोग कर रहे हैं और अन्त में उन को प्रजा से हारना पड़ेगा। इतिहास में इस के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। कई बादशाहों को प्रजा का विरोध करके प्राण खोना पड़ा है। अभी इसी साल पृथ्वी के सब से स्वेच्छाचारी बादशाह, रूस के ज़ार, को गद्दी छोड़नी पड़ी है।

रूसो के इस सिद्धान्त का योरप के विचारों पर बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ा है और यद्यपि कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि इस में एक प्रकार की अतिशयोक्ति है, तथापि पाश्चात्य नीतिज्ञों की दृष्टि में इसने एक अत्युच्च स्थान पाया है। इसको ध्यान में रखते हुए हमको 'राष्ट्र' शब्द की निम्नलिखित परिभाषा, जो हौब्ज़ ने की है, समझने में सुगमता होती है। "राष्ट्र वह एक व्यक्ति है जिस के कामों का एक बहुसंख्यक जन-समुदाय ने, अपने को परस्पर प्रतिज्ञा से बद्ध कर के, अपने को इस उद्देश से कर्ता मान लिया है कि वह (अर्थात् राष्ट्र) उन सब के विभवों और शक्तियों का, जिस प्रकार कि वह उचित समझे, उन सब की शान्ति और रक्षा के लिए प्रयोग करे" The State is one person for whose acts a great multiude by mutual covenants, one with another, have made themselves, every one, the auther to the end he may use the means and strength of them all as he shall think expedient for their peace and common defence.—Hobbes.

इस का तात्पर्य एक उदाहरण द्वारा समझ में आ सकता है। जिस समय वर्तमान यूरोपीय युद्ध आरम्भ हुआ,

उस समय इङ्गलेण्ड का शासन कुछ व्यक्तियों के हाथ में था। इन व्यक्तियों के समूह को एक व्यक्ति मान लीजिए। इस व्यक्ति ने यह उचित समझा कि इंग्लैण्ड की रक्षा और भावी शान्ति के लिये जर्मनी से लड़ना उचित है और इस लिये उस ने लड़ाई आरम्भ कर दी। उस के इस काम का प्रत्येक अंग्रेज़ ने अपने को कर्ता मान लिया, अर्थात् सबने इस काम को उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जैसे कि अपने हाथ से किया हुआ काम स्वीकार किया जाता है। अब इस युद्ध के लिये जो कुछ धन, जन आदि की आवश्यकता होगी उस को संग्रह और व्यय करने का उस समुदायी व्यक्ति को (जो शासन कर रही थी) पूरा अधिकार है। इंग्लैंण्ड की प्रजा युद्ध के हानि-लाभ के लिये पूर्णतया प्रस्तुत है। बस, यह व्यक्ति इंगलिश राष्ट्र या सरकार है। किसी और व्यक्ति को सरकार नहीं कह सकते, क्योंकि प्रजा ने उस के कामों के लिए अपने को उत्तरदाता नहीं बनाया है। यदि वह कोई काम करे तो प्रजा उसे अपने विभवों और शक्ति का प्रयोग न करने देगी।

इस परिभाषा में सर्कार को प्रजा की ओर से शक्ति मिलना स्पष्ट कर दिया गया है। चाहे खुले शब्दों में कहा जाय या न कहा जाय, परन्तु सर्वत्र ही अधिकार और शक्ति का भण्डार प्रजा है। राजतन्त्र देशों में यह बात न्यूनाधिक अस्पष्ट रहती है। पूर्वकाल में प्रजा की अज्ञता और पारस्परिक विद्वेष के कारण राजाओं का बल इतना बढ़ गया था कि मानों प्रजा अपने सारे अधिकारों से हाथ धो बैठी थी। किसी को यह कहने का साहस ही न होता था कि राजा को प्रजा की इच्छा के अनुकूल काम करना चाहिए। यदि प्रजा

राजा से असन्तुष्ट हो तो उस के पास सिवाय खुले विद्रोह के और कोई उपाय ही न था। पर अब वह समय गया। अब इन देशों में भी मान लिया गया है कि राष्ट्र की शक्ति वस्तुतः प्रजा-दत्त है। इसी लिये अब बिना विद्रोह के भी प्रजा अपनी इच्छा के अनुसार शासन-पद्धति में परिवर्तन करा सकती है। प्रजातन्त्र देशों के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। वहां तो प्रजा अपने शासकों को आप चुनती है और एक नियमित काल के उपरान्त उन के स्थान में नवीन शासकों का निर्वाचन करती है। इतना ही नहीं, यदि कोई शासक अयोग्याचरण करे तो उसे बीच में ही पदच्युत होना पड़ता है। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से मान ली गई है कि शक्ति का दाता (और यदि वह चाहे तो, हर्ता) प्रजा-वर्ग है। अतः हमने अभी तक यह निश्चय किया है कि राष्ट्र उस व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय का नाम है जिसको प्रजा ने यह अधिकार प्रदान कर रक्खा हो कि वह प्रजा की सारी शक्तियों का, प्रजा के कल्याण के लिये, यथोचित उपयोग करे और जो इस कल्याण का प्रतिरोधी हो उससे, इन शक्तियों के द्वारा, प्रजा की सर्वतः रक्षा करे।

प्रसङ्गतः हम 'अन्तर्जातीय नियम' (International Law) पर भी संक्षेपतः विचार करेंगे। पहिली बात जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि यह नाम सर्वथा अयुक्त है। नाम के दोनों ही शब्द ठीक नहीं हैं। पहिले तो यह नियम या नियमावली राष्ट्रों से सम्बन्ध रखती है, जातियों से नहीं। प्रत्येक राष्ट्र के आधीन कई जातियां हो सकती हैं। अकेली अंग्रेज़ सरकार के आधीन अंग्रेज़, भारतीय, बर्मन, मेओरी, ज़ूलू, बोअर आदि कितनी ही जातियाँ हैं। फिर, एक जाति कई

राष्ट्रों के आधीन हो सकती है। यूरोप की पोल जाति के लोग रूस, जर्मन और आष्ट्रियन राष्ट्रों के अभी तक आधीन रहे हैं। अतः यह नियम अन्तर्राष्ट्रीय है, अन्तर्जातीय नहीं। दूसरे नियम शब्द भी असंगत है। प्रत्येक नियम के लिये कोई नियामक चाहिए और उस नियम के तोड़ने वाले को दण्ड देने वाला कोई निष्पक्ष न्यायाधीश चाहिए। राष्ट्र-सम्बन्धी बातों में इसका सर्वथा अभाव है। न तो कोई वस्तुतः नियामक है, और न न्यायाधीश। कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको भिन्न२ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने समय २ पर एकत्र होकर स्थिर करली हैं और कुछ बातें सामान्य शील, सौजन्य के अनुरूप होने से सदैव से व्यवहृत हैं। बस, इन्हीं बातों को 'नियम' कहते हैं, और इन्हीं के अनुसार सभ्य राष्ट्र प्रायः एक दूसरे से व्यवहार करते हैं। परन्तु यदि कोई राष्ट्र उच्छृङ्खल होकर इन नियमों को तोड़ दे तो क्या होगा? उसे दण्ड कौन देगा? उसकी इस उद्दण्डता से जिस राष्ट्रान्तर की हानि हुई है यदि वह सबल होगा तो युद्ध करेगा, नहीं तो कुछ भी न होगा। बलवान राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों को योंही सताते रहेंगे। इसी लिये 'नियम' शब्द सर्वथा अयुक्त है। इससे अच्छा नाम 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार-प्रणाली' है।

इस प्रणाली के अनुसार राष्ट्र शब्द के कुछ लक्षण मान लिये गये हैं। जिन शासनों में निम्न-लिखित बातें पाई जाती हैं, वे इस प्रणाली की दृष्टि में राष्ट्र हैं। मुख्य लक्षण ये हैं:-

(क) अपने समाज का अन्य तुल्य समाजों के साथ यथोचित सम्बन्ध (युद्ध, संधि, औदासीन्य आदि) कराने का पूर्ण स्वत्व या स्वामित्व रखना।

(यहां समाज से तात्पर्य्य उस जनता से है जिस पर वह राष्ट्र शासन करता हो)

(ख) हर प्रकार के वाह्य दबाव से पूर्ण स्वातंत्र्य। और

(ग) किसी निश्चित भू-भाग पर आधिपत्य।

ये लक्षण स्वतः कठिन नहीं हैं और यदि सदैव इनके अनुकूल व्यवहार किया जाय तो यह बात बड़े सुभीते से जानी जा सकती है कि कौन सा शासन 'राष्ट्र' कहलाने का अधिकारी है। परन्तु आपत्ति यह है कि इन लक्षणों के कई अपवाद हैं। इन में से दो तीन जो बहुत प्रसिद्ध हैं नीचे दिये जाते हैं:-

(१)—जर्मनी में सैक्सनी (Saxony), बवेरिया (Bavaria) आदि कई छोटे २ राज्य हैं। ये सब जर्मन क़ैसर के आधीन हैं परन्तु युद्ध के पहिले बराबर इनके राजदूत इंगलैंड और इंग्लैंड के राजदूत इन के यहां रहा करते थे। राजदूतों का भेजना बराबर के राष्ट्रों में ही होता है। अतः ये राष्ट्र हुए। परन्तु जर्मनी के आधीन होने से (क) और (ख) के अनुसार राष्ट्र नहीं हैं।

(२)—यूरप में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के परमाचार्य्य को पोप (Pope) कहते हैं। किसी समय पोपों का बहुत बड़ा राज्य था परन्तु अब वे केवल धर्माचार्य्य रह गये हैं। उनका किसी भी निश्चित भू-भाग पर आधिपत्य नहीं है, अतः (ग) के अनुसार वह राष्ट्र नहीं है, परन्तु यूरोप के सभी प्रधान राष्ट्रों के राजदूत उनके यहां रहते हैं और राजनीति-विषयों में पोप इन राष्ट्रों के साथ राजनैतिक व्यवहार करते हैं, अतः उनको राष्ट्र मानना चाहिए।

(३)—इस प्रकार की स्मरण योग्य बातों में 'मनरो सिद्धान्त' (Monroe Doctrine) अत्यन्त महत्व का है। अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी भागों में कई प्रजातन्त्र राष्ट्र हैं। इनमें उपर्युक्त तीनों ही लक्षण पाये जाते हैं। इनमें से कई, जैसे मेक्सिको, ब्रेजिल (Brazil), चिली (Chile) आदि बहुत प्रबल और समृद्ध देश हैं, परन्तु सब से बड़ा वह राष्ट्र है जिसको संयुक्त राष्ट्र (United States) कहते हैं। हमारे देश में बहुत से लोग तो इसके प्राधान्य के कारण इसको ही अमेरिका कह दिया करते हैं। यहां के सभापति मनरो ने सन् १८२३ में उक्त सिद्धान्त का प्रकाश किया। इसका सरल तात्पर्य यह है, "अमेरिका के राष्ट्र यूरोप के राष्ट्रों के घरेलू झगड़ों में बोलना नहीं चाहते और न वे यूरोप में अपना प्रभाव और आधिपत्य बढ़ाना चाहते हैं। यही नियम यूरोप के राष्ट्रों को अमेरिका के विषय में मानना होगा। यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र ने इसके विरुद्ध किया या करने का प्रयत्न किया तो वह संयुक्त राष्ट्र का विरोधी समझा जायगा।" ये शब्द विचार करने के योग्य हैं। इस सिद्धान्त ने, जिसको कि अस्पष्ट रूप से प्रायः सभी यूरोपीय राष्ट्रों ने मान लिया है, उनके स्वातंत्र्य को रोक दिया है। वे अब युद्ध या नीति द्वारा अमेरिका में अपने आधिपत्य का विस्तार नहीं कर सकते, साथ ही इससे अमेरिका के राष्ट्रों के स्वातंत्र्य में भी रुकावट सी पड़ती है। वे स्वतंत्र हैं, अपने लाभ-हानि को समझ सकते हैं और अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं, परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार संयुक्त राष्ट्र ने अपने को सब का रक्षक या अभिभावक बना लिया है और एक प्रकार से सब का नेता बन गया है। इससे हमारे लक्षण (ख) का विरोध होता है।

(४)—सन् १८३१ में इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, रूस, आस्ट्रिया और इटली ने बेल्जियम की परिस्थिति निश्चित की थी। उस समय यह निर्णय हुआ कि बेल्जियम एक स्वतंत्र और 'सदैव उदासीन' (perpetually neutral) राष्ट्र होगा। 'सदैव उदासीन' का अर्थ यह है कि वह यूरप की लड़ाइयों में किसी का पक्ष न लेगा। साथ ही इसके, इङ्गलैण्ड आदि ने इसकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और यह वचन दिया कि हम में से कोई कभी बेल्जियम पर आक्रमण न करेगा। अब बेल्जियम की परिस्थिति पर विचार कीजिए। उस में (ख) और (ग) लक्षण तो हैं पर (क) का अभाव है क्योंकि इतर राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध को परिवर्तित करने का उसे अधिकार नहीं है, अतः वह राष्ट्र नहीं है। फिर भी यूरोप में उसके साथ राष्ट्रवत् व्यवहार होता है। बर्तमान युद्धमें जब जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण किया तो उसने अपनी पूर्व्व प्रतिज्ञा को तोड़ दिया था। यह बात उसे भी किञ्चित माननी पड़ी, पर इसके उत्तर में उसने एक विचारणीय उत्तर दिया है। उसका कथन है कि, 'सदैव उदासीन' राष्ट्र को स्वराज्य वृद्धि का अधिकार नहीं है' परन्तु बेल्जियम ने अफ्रिका में काङ्गो नामक प्रान्त अपने आधिपत्य में कर लिया है। बस, ऐसा करने से उसने अन्य राष्ट्रों के साथ स्पर्धा की और अपनी 'नित्य उदासीनता' को खो दिया। अतः उस पर आक्रमण करने से वचन भङ्ग नहीं हो सकता। यदि जर्मनी का यह तर्क ठीक है तो युद्ध के पहिले बेल्जियम को राष्ट्र कहना और भी अयुक्त था।

(५)—आस्ट्रेलिया नामक बृहत्द्वीप इंगलैंड का एक प्रधान उपनिवेश है। इसका भीतरी प्रबन्ध एक सभा करती

है जिसके सदस्य प्रजा द्वारा चुने जाते हैं। द्वीप के भिन्न २ प्रान्तों का प्रबन्ध प्रान्तीय सभायें करती हैं। स्वयं आस्ट्रेलिया में (ग) के अतिरिक्त और कोई लक्षण नहीं मिलता, क्योंकि वह ब्रिटिश शासन के आधीन है। अतः वह राष्ट्र नहीं है। इन प्रान्तों का तो कहना ही क्या है। फिर भी सन् १६०१ में जब अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट ने आस्ट्रेलिया की शासन-पद्धति निश्चित की तो उसके प्रत्येक प्रान्त को राष्ट्र (State) की उपाधि दी गई।

इन उदाहरणों से विदित है यह कि शब्द कई ऐसे स्थलों में प्रयुक्त होता है जो किसी एक परिभाषा के अन्तर्गत नहीं हो सकते और इन्हीं असाधु प्रयोगों ने व्यापक परिभाषा का बनना भी कठिन कर रक्खा है। साधारणतः 'राष्ट्र' शब्द की यह व्याख्या हो सकती है, "राष्ट्र वह व्यक्ति (या व्यक्ति-समुदाय) है जिसको किसी जनता ने सम्प्रति यह अधिकार दे रक्खा हो कि वह उस जनता की सम्पूर्ण शक्तियों का अपनी बुद्धि के अनुसार इस उद्देश से उपयोग करे कि उस जनता की सर्वतः वृद्धि और रक्षा हो।"

प्रसङ्गतः दो और शब्दों की व्याख्या करनी आवश्यक है। ऊपर 'शासन' शब्द कई जगह आ चुका है। शासन का अंग्रेज़ी पर्य्याय "गवर्नमेंट" (Government) है। इसके दो अर्थ हैं, देश का प्रबन्ध, और प्रबन्धकर्ता गण का समूह। इस द्वितीय अर्थ में यह राष्ट्र का सामानार्थ बोधक हो सकता है। परन्तु इन शब्दों के प्रयोग में भेद है। राष्ट्र शब्द के अन्तर्गत जनता की सारी शक्तियां और उनका प्रयोग आ जाता है। शासन शब्द केवल देश-प्रबन्ध के साधन या उपकरण को लक्षित करता है। वस्तुतः, शासन और शासित

के समुदाय का नाम राष्ट्र है, यद्यपि व्यवहार में शासित का स्पष्ट कथन या विचार नहीं होता।

दूसरा शब्द "स्वत्व" या "स्वाम्य" है, यह राष्ट्र के (क) लक्षण में आया है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है और इसकी व्याख्या भी वैसी ही कष्ट-साध्य है जैसी "राष्ट्र" की। हम ऊपर कह चुके हैं कि जनता की शक्तियों के उपयोग करने वाले को राष्ट्र कहते हैं। बस, संक्षेपतः इन सब शक्तियों के समूह का नाम स्वत्व या स्वाम्य है।

अमेरिका के प्रजातन्त्र राष्ट्रों का कथन करते हुए, पेन (Paine) कहते हैं, "उस प्रकार के प्रजातन्त्र राष्ट्रों में, जैसे कि अमेरिका में स्थापित हैं, स्वत्व-शक्ति, अर्थात् वह शक्ति जो सब के ऊपर है और जिसके ऊपर कोई नहीं है, उन्हीं हाथों में है जिनमें प्रकृति ने उसे रखा था—जनता (के हाथों) में। "In republics such as are established in America, the sovereign power, or the power over which there is no control and which controls all others remains where Nature placed it—in the people" इसका तात्पर्य यह है कि स्वत्व (Sovereignty) स्वभावतः जनता के ही हाथ में है। प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल (Hegel) के मत के अनुसार "जनता के वास्तविक व्यापक (या साधारण) सङ्कल्प का नाम स्वाम्य है।" "Sovereignty is the common real will of the people" संयुक्त राष्ट्र के प्रसिद्ध सभापति डाक्टर वुड्रो विल्सन अपनी पुस्तक दि स्टेट (The State) में लिखते हैं "स्वामी वह निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समूह है जिसकी आज्ञा किसी संगठित जनता के अधिकांश लोग

माना करते हों और जो स्वयं किसी मनुष्य की, उसको अपने से बड़ा मान कर, आज्ञावर्ती न हो" A Sovereign is a determinate person or body of persons to whom the bulk of the members of an organised community are in the habit of rendering obedience and who are themselves not in the habit of rendering obedience to any human superior."

इन सब लक्षणों या व्याख्याओं से उत्तम वह व्याख्या है जो यूरोप के प्रसिद्ध नीतिज्ञ अरस्तू ने अपनी पुस्तक पोलिटिक्स (Politics) में की है, " स्वाम्य वह पदार्थ है जो युद्ध और शांति, (पर-राष्ट्रों से) मैत्री करना और तोड़ना-आदि विषयों का निर्णय करता है और जो शासन-सम्बन्धी नियम, प्राणदण्ड, अर्थदण्ड, देशनिष्कासन, आय व्यय की जांच और राज कर्मचारियों की परीक्षा (उनके सेवाकाल के पूरे होने पर) का निश्चय करता है।" "Sovereignty is that which decides in questions of war and peace and of making or dissolving alliances and about laws and capital, punishment and exiles and fines and audit of accounts and examination of administrators after their terms of office."

इन सब व्याख्याओं के तोलन और सम्यक् निरीक्षण से स्वत्व या स्वाम्य के ये प्रधान लक्षण निकलते हैं:— (१) युद्ध और शांति का निश्चय करना (२) टकसाल चलाना, (३) नियम बनाना, (४) प्रजा से कर लेना और उसका व्यय करना, (५) विवादास्पद विषयों में अन्तिम

न्याय करने की शक्ति रखना और (६) अपनी शासन-पद्धति को निश्चित करने का अधिकार रखना।

यह अध्याय कुछ लम्बा हो गया है पर दूसरे अध्याय के विषय का निरीक्षण या बिना इस विस्तृत विचार के हो नहीं सकता था। इसके साथ ही यह सर्वथा लाभदायक है कि नित्यप्रयुक्त गूढ़ार्थवाचक शब्दों का अर्थ पूर्णतया समझ लिया जाय।

२—देशी राष्ट्रों का राष्ट्रत्व

अब हम को यह देखना है कि हम, उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखते हुए, अपने देशी राज्यों को 'राष्ट्र' कह सकते हैं या नहीं? यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि बिना निश्चय किये ही उनके लिये राष्ट्र शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि अंग्रेज़ी मे इनके लिये स्टेट्स (States) शब्द प्रयुक्त होता है, इसी से हिन्दी में भी राष्ट्र शब्द लिखा गया है।

ऊपर हम राष्ट्रों के तीन मुख्य लक्षण लिख आये हैं। अब देखना चाहिए कि इन राज्यों में से कौन २ से लक्षण मिलते हैं?

पहिले तृतीय लक्षण (ग)-किसी निश्चित भूभाग पर आधिपत्य—को लीजिए। यह हमारे सभी राज्यों में पाया जाता है। हमारे यहां १ $\frac{1}{4}$ (सवा) वर्ग कोस से लेकर २२५०० वर्ग कोस विस्तार तक के राज्य हैं। पर ऐसा कोई राज्य

नहीं है जिसका किसी निश्चित भू-भाग पर आधिपत्य न हो। अभी थोड़े ही दिन हुए ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने बम्बई की ख़ोजा जाति के धर्म्मगुरु आगा खां को बिना उनके पास कोई राज्य हुए ही, राजों के बराबर कुछ अधिकार देदिये हैं परन्तु आग़ा खां को देशी राज या रियासत या राष्ट्र नहीं कहते। इस लिये हमारा कथन निर्विवाद है कि सभी रियासतें किसी न किसी निश्चित भूभाग पर आधिपत्य रखती हैं।

अब द्वितीय लक्षण (ख)-वाह्य दवाव से पूर्ण स्वतंत्र्य-को लीजिए। हमको यह देखना है कि हमारे राज्य कहां तक स्वतंत्र हैं या, सुगमतार्थ कहांतक परतन्त्र हैं। पारतंत्र्य दो प्रकार का होता है। पारतंत्र्य (Enternal Dependence) और बहिष्पारतंत्र्य (External dependecne) अंतः पारतंत्र्य वह अवस्था है जिसमें कि राष्ट्र वाहरी विषयों में तो स्वतंत्र होता है पर अपने देश के शासन-सम्बन्धी विषयों में न्यूनाधिक परतंत्र रहता है। इस का उल्टा बहिष्पारतन्त्र्य है, जिसमें राष्ट्र स्वदेश-शासन में तो स्वतंत्र हो पर वाह्य विषयों में परतंत्र। अंतःपरतंत्र राष्ट्रों की संख्या स्वभावतः कम होती है। जिस राष्ट्र में इतनी शक्ति होती है कि वह अपने को परराष्ट्र सम्बन्धी विषयों में स्वतंत्र रख सकता है उसका किसी अंश में परतंत्र होना कठिन है। पर ऐसे उदाहरण कभी २ मिल जाते हैं। प्रसिद्ध मुसलमानी राष्ट्र 'टर्की' बहुत दिनों तक इसी कोटि में पड़ा हुआ था। वह अन्य राष्ट्रों से सन्धि विग्रह करने में पूर्ण स्वतंत्र था परन्तु इस बात के लिये वद्ध था कि अपनी ईसाई प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार करे और उनकी परिस्थिति में यूरोप के बड़े ईसाई राष्ट्रों के निर्दिष्ट मार्ग पर क्रमशः उन्नति करे। अपनी प्रजा के किसी

अंश के साथ यथेच्छ व्यवहार न कर सकने के कारण वह अन्तः परतन्त्र राष्ट्रों की कक्षा में पड़ गया था।

वहिष्परतंत्र देश पृथ्वी पर सदैव ही रहते हैं। इसी समय जर्मनी में बवेरिया आदि कई राज्य हैं जो स्वदेश शासन में स्वतन्त्र हैं परन्तु अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने वाली बातों में कैसराधिष्ठित साम्राज्य के अधीन हैं। यही दशा अमेरिका के 'संयुक्त राष्ट्र' के अन्तर्गत राष्ट्रों की है। वे भी प्रान्तीय शासन में स्वतंत्र परन्तु प्रान्तान्तर या राष्ट्रान्तर सम्बन्धी विषयों में प्रधान राष्ट्र के अधीन हैं।

अब देशी राज्यों को लीजिए। इनमें से किसी को भी भारत के बाहर किसी अन्य राष्ट्र या भारत में ही किसी राज्य से सन्धि-विग्रह करने का अधिकार नहीं है। इन में से अधिकांश ने तो इस बात को उन सन्धि-पत्रों में, जो समय २ पर इनके और अंग्रेज़ी सर्कार के बीच में लिखे गये हैं, स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है। शेष ने इसको अस्पष्टतया, किन्तु निर्विवाद रूप से, मान लिया है। अतः ये सब बहिष्परतंत्र हैं। इनके सभी परराज्य या पर-राष्ट्र सम्बन्धी व्यवहार अङ्गरेज़ी सर्कार के मध्यस्थता से होते हैं।

अब यह देखना है कि ये अंतः स्वतन्त्र हैं या परतंत्र ! इनमें से बहुत सी रियासतें ऐसी हैं जिनको फाँसी देने का अधिकार नहीं है। मध्य भारत की मैहर, खिलचीपूर, छत्रपूर सैलाना, सीतामऊ और अन्यत्र भी कई रियासतें इसी कोटि में हैं। कई रियासतें, जैसे कोचीन, बिना अंग्रेज़ी सर्कार की स्वीकृति के कोई नया नियम नहीं बना सकती और न किसी व्यक्ति विशेष को महामात्य बना सकती हैं। कई रियासतों की दशा और भी गई बीती है। उड़ीसा की सर्गुजा आदि रिया-

सतें, मध्य भारत के सरीला, बावनी आदि राज्य और काठियावाड़ के वडवान आदि ठिकाने ऐसे हैं, कि इनके नरेशों को केवल प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट तक के अधिकार प्राप्त हैं। कितनों को यह भी नहीं है। साथ ही इसके कुछ ऐसे भी राज्य हैं जिनमें ये सब बन्धन देख नहीं पड़ते। हैदराबाद, बड़ौदा, ग्वालियर, आदि इस श्रेणी में हैं, प्रकटतया ये अंतः-स्वतन्त्र ही प्रतीत होते हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से यह बात भ्रमयुक्त देख पड़ती है। यह सत्य है कि अंगरेज़ी सर्कार के नियम इन रियासतों में (वस्तुतः किसी भी रियासत में) प्रचलित नहीं हो सकते, परन्तु अंगरेज़ी सर्कार इनसे जब जैसे नियम चाहे बनवा सकती है। सन्धि-पत्रों की धारायें चाहे जो कुछ कहें पर बड़े का छोटे पर दबाव पड़ता ही है। यद्यपि अगरेज़ी सर्कार स्पष्टतया कुछ न कहे पर सङ्केतों द्वारा अपना काम निकलवा सकती है। यह असम्भव सा है कि वर्तमान स्थिति में कोई राज्य ऐसा नियम बनावे या शासन-पद्धति अवलम्बित करे जो अंगरेज़ी सर्कार को सर्वथा अप्रिय हो। फिर ब्रिटिश सर्कार ने इनके शासन के निरीक्षण का भार खुल कर अपने ऊपर लिया है। वह केवल आलोचना ही नहीं करती प्रत्युत यदि किसी से अत्यन्त असन्तुष्ट हो तो उसे गद्दी पर से उतार देने तक का अधिकार उसे है। रियासतों में जो उसके प्रतिनिधि स्वरूप रेज़िडेण्ट (Resident) होते हैं, उनकी बात माननी ही पड़ती है, जैसा कि शर टी. डबल्यू. होल्डर्नेस अपनी पुस्तक पीपुल्स ऐण्ड प्रोब्लेम्स आव इण्डिया (Peoples and Problems of India) में लिखते हैं "शासन सम्बन्धी बातों में बुद्धिमान् राजा की परिस्थिति पृथ्वी के किसी नीतिज्ञ या बादशाह से घट कर नहीं है, परन्तु पराधीनता-युक्त संयोग का अर्थ ही

दबाव है। ब्रिटिश रेज़िडेण्ट को सभी बातों की सूचना देनी पड़ती है और वह जो परामर्श देता है न्यूनाधिक अधिकार के साथ देता है"। "A wise and intelligent prince is as happily placed as regards public affairs as any statesman or potentate in the world. But subordinate union implies restraint. The British political officer or Resident has to be kept informed of the affairs of the state and has to advise the chief in a more or less authoritative manner." अतः यह कहना पड़ता है कि सभी रियासतें अन्तःपरतन्त्र हैं।

इसमें संदेह नहीं कि बड़ी रियासतों को बहुत कुछ स्वातंत्र्य भी है। जब तक वे किसी ऐसी नीति का अवलम्बन न करें जो किसी कारण से अंगरेज़ों को नितान्त अप्रिय हो तब तक उनके कामों में बाधा नहीं डाली जाती। जो बातें साधारणतः अप्रिय हैं उनके विषय में भी अंग्रेज प्रायः चुप ही रहते हैं। बड़ी रियासतें चाहे जैसा कर प्रजा से लें और उसे चाहे जिस प्रकार व्यय करें, उन से कोई कुछ नहीं पूछता। साथ ही बड़ी रियासतें, विशेषतः वे जिनमें राजा सुशिक्षित हैं, अपने सन्धि-पत्रों से प्राप्त अधिकारों को समझती हैं और न तो रेज़िडेण्ट उनको छेड़ते ही हैं न साधारणतया परामर्श ही देते हैं।

परन्तु इन कारणों से हम इन को स्वतन्त्र नहीं कह सकते। कोई २ लेखक इन को अर्ध-स्वतन्त्र (Semi-Independent) कहते हैं, पर इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध नीतिज्ञ मेन (Maine) के शब्द स्मरण रखने योग्य हैं—"Independence

is indivisible" "स्वातन्त्र्य अविभाज्य है"—स्वातन्त्र्य के टुकड़े नहीं हो सकते। या तो वह पूरा होता है या होता ही नहीं। सच बात तो यह है कि सभी राज्य न्यूनाधिक अंतः परतन्त्र हैं। अर्ध-स्वातंत्र्य कोई पदार्थ नहीं है—वह पारतन्त्र्य के लिये एक कर्ण-प्रिय किन्तु झूठा और अर्थहीन नाम है।

अब हम राष्ट्रों के प्रथम लक्षण (क)-स्वत्व या स्वाम्य-की ओर आते हैं और यह देखते हैं कि देशी राज्यों में यह है या नहीं ?

हम प्रथम अध्याय में स्वाम्य के छ लक्षण बतला आये हैं—(१) युद्ध और शान्ति का निश्चय करना, (२) टकसाल चलाना, (३) नियम बनाना, (४) प्रजा से कर लेना और उस को व्यय करना, (५) विवादास्पद विषयों में अन्तिम न्याय करने की शक्ति रखना और (६) अपनी शासन—पद्धति के निश्चित करने का अधिकार रखना।

हमारी रियासतों में से (१) और (६) किसी में नहीं पाये जाते। कोई राज्य अपनी इच्छा के अनुसार न तो किसी से लड़ सकता है और न सन्धि कर सकता है। जब ब्रिटिश सरकार से किसी से लड़ाई होगी तब ब्रिटिश सरकार का शत्रु रियासतों का भी शत्रु होगा और जो ब्रिटिश सर्कार का मित्र होगा वह इन का भी मित्र होगा। न तो अंग्रेज़ी सरकार इन से पूछ कर युद्ध करने पर बाध्य है, न सन्धि करने पर, परन्तु उस के निर्णय इन सब को मानने पड़ेंगे। रियासतों की शासन-पद्धति भी बद्ध है। उस में परिवर्तन नहीं हो सकता। यद्यपि अपने सुभीते के लिये कई राजाओं ने अपने यहां व्यवस्थापक समितियां (Legislative Assemblies) नियत की हैं, पर इन के होने से कोई विशेष

परिवर्तन नहीं हुआ। यह नहीं हो सकता कि, कोई रियासत प्रजातन्त्र हो जाय या उस का राजवंश कहीं निकाल दिया जाय। ब्रिटिश सर्कार ऐसा होने न देगी। (५) प्रायः सभी बड़ी रियासतों में पाया जाता है। (२) हैदराबाद, उदयपुर आदि कई बड़ी रियासतों में पाया जाता है। (४) सब में है और, (३) भी प्रायः सभी में है। (३) और (४) के विषय में अंग्रेज़ी सर्कार कई रियासतों में हस्तक्षेप करने का अधिकार रखती है। अतः यह लक्षण पूर्णतया किसी में भी नहीं मिलते, परन्तु, इन सब बन्धनों के होते हुए भी रियासतों को स्वाम्य प्राप्त है, वे स्वत्वापन्न हैं। 'मेन' का कथन है—"Sovereignty in not in-divisible" "स्वाम्य अ-विभाज्य नहीं है"। स्वत्व के टुकड़े हो सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, रियासतों ने स्वाम्य के कुछ अंश तो अपने पास रक्खे हैं और कुछ ब्रिटिश सर्कार के हाथ में दे दिये हैं।

उपर्युक्त बातों पर विचार करने से इन रियासतों के राष्ट्रत्व का निर्णय हो सकता है। इन में सिवाय 'निश्चित भू-भागाधिपत्य' के और कोई लक्षण नहीं घटता, न तो ये स्वतन्त्र हैं और न इन के पास पूर्ण स्वाम्य है, इस से यह विदित होता है कि इन को राष्ट्र कहना समुचित नहीं है। पृथ्वी के उन प्रधान राष्ट्रों के साथ (जिन का राष्ट्र होना निर्विवाद है) इन की तुलना नहीं हो सकती और न इन का उन का बराबरी का व्यवहार हो सकता है। ये रियासतें अन्तर्जातीय नियम के बाहर हैं, यदि इन के लिये 'राष्ट्र' नाम का प्रयोग किया जाता है तो केवल गौण रूप से या औपचारिक रीति से। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि राष्ट्र नाम उपयुक्त नहीं है तो फिर क्या कहा जाय?

इस का उत्तर देना कठिन है, इस को भाषा का दारिद्र्य समझना चाहिए, परन्तु अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में ऐसे शब्द का अभाव है जो इन रियासतों की विशिष्ट परिस्थिति के लिये पूर्णतया युक्त हो। ऐसी अवस्था में प्रचलित 'राष्ट्र' पद से काम लेना होगा।

आने वाले अध्यायों में हम इस विषय का अन्वेषण करेंगे कि इन रियासतों की पूर्वावस्था क्या थी, इन का अंग्रेज़ों से किस प्रकार सम्बन्ध हुआ और ये किस प्रकार क्रमशः अपनी वर्तमान परिस्थिति पर पहुँचीं ?

३—मुग़ल साम्राज्य के नष्ट होने के समय भारत की राजनैतिक अवस्था।

सम्वत् १७६४ (सन् १७०७) में सम्राट् औरंगज़ेब [आलमगीर] ने इस असार संसार को परित्याग किया। सम्भव है कि औरों को इसमें किसी प्रकार का सार मिलता भी हो परन्तु औरंगज़ेब के लिये तो यह सर्वथानिःसार ही था। यौवन काल दक्षिण के बहमनी राज्यों से लड़ने और पिता और भाइयों को दबा कर गद्दी प्राप्त करने और प्रान्तीय क्षत्रियों को सँभालने और राजपूतों को सर करने में निकल गया और बुढ़ापा मरहठों के साथ निरन्तर लड़ाई लड़ने में बीता। आयु योंही चली गई पर हाथ कुछ भी न लगा। इसमें सन्देह नहीं कि इनके शासन-काल में साम्राज्य के क्षेत्र-फल की वृद्धि हुई। बीजापुर का बहमनी राज्य, जो इनके

पूर्वजों से बच रहा था, इनके हाथ लगा और आसाम प्रान्त जो अब तक मुसलमानों के लिये अजेय था और जिसने बड़े साहस के साथ अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा की थी, मुग़ल राज्य में सम्मिलित हो गया। इसी लिये औरंगज़ेब को भी अकबर, जहांगीर और शाहजहां की भाँति महा मुग़ल (The Great Mogul) की उपाधि दी जाती है।

परन्तु, औरंगज़ेब का ही शासन मुग़लों के अधःपतन का एक प्रधान कारण भी था। अकबर की प्रखर बुद्धि ने यह बात देख ली थी कि हिन्दुओं को शत्रु बनाने से राज्य कदापि दृढ़ नहीं रह सकता। उसने समझ लिया था कि थोड़े से परिश्रम से हिन्दू लोग मुग़ल राज्य के प्रबल सहायक बनाये जा सकते हैं। उसके सामने पठान बादशाहों के दृष्टान्त उपस्थित थे। उन्होंने हिन्दुओं को अपना मित्र बनाने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया था। फल यह हुआ कि अवसर पर उनको हिन्दुओं से सहायता न मिली और राज्य इनके हाथ से चला गया। यह सब जान कर ही, अकबर ने नीति से काम लिया। उसने कई प्रधान क्षत्रिय राजवंशों से विवाह द्वारा प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थिर किया और शासन कार्य्य में हिन्दू मुसलमानों को एक मान कर अपने राज्य की नींव अति दृढ़ बना ली। उच्च पद योग्य पुरुषों को, चाहे वे किसी मत के अनुयायी हों, दिये जाते थे। इसी का यह फल था कि अकबर महाराजा मानसिंह और राजा टोडरमल ऐसे असाधारण पुरुषों की बुद्धि और पराक्रम से लाभ उठा सका। यद्यपि प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप की प्रचण्ड स्वदेश-भक्ति और स्व-जाति-भक्ति ने इस नीति के अविकल साफल्य में किञ्चित बाधा डाली परन्तु विशेषतः उद्देश्य की सिद्धि ही हुई। जहाँगीर

और शाहजहां ने भी इस नीति का प्रायः अवलम्बन किया। यद्यपि किसी २ अवसर पर शाहजहाँ के ही शासन काल में औरंगज़ेबी शासन की पूर्व झलक देख पड़ी थी (जैसे कि जब बुन्देलखण्ड में ओरछा वालों पर विजय प्राप्त कर के शाहजहां ने वहां के कई प्रसिद्ध मन्दिर तुड़वा दिये थे) पर अधिकांश में अकबर के ही निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किया गया। इन बादशाहों में इतनी क्षमता तो थी नहीं कि स्वयं किसी महत्व-पूर्ण मार्ग का उद्घाटन कर सकते। यही बहुत था कि इन्होंने अकबर के मार्ग को बन्द नहीं कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी विशेष कष्ट के अभाव होने से हिन्दू प्रजा अपने मुसल्मान शासकों से सन्तुष्ट थी। राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण आर्थिक दशा भी अत्यन्त सन्तोषजनक थी। हिन्दू मुसल्मानों में दिनोंदिन प्रेम बढ़ता जाता था। दोनों जातियां एक दूसरे के गुणों से परिचित होती जाती थीं। मुग़ल भी अपने को विदेशी कहना छोड़कर भारतवासी समझने लग गये थे।

औरङ्गज़ेब के गद्दी पर बैठते ही ये सब बातें जाती रहीं। हिन्दू उच्च पदों से च्युत कर दिये गये। प्रत्येक हिन्दू को, वह पुरुष हो या स्त्री, बाल हो या वृद्ध, एक विशेष कर देना पड़ता था, जिसका नाम 'जज़िया' था। मन्दिरों के तोड़ने और देव-प्रतिमाओं को विकृत करने की प्रथा फिर से प्रचलित की गई। मुसल्मानों को यह बात पुनः स्मृत कराई गई कि वे भारत के विजेता हैं—हिन्दू-धर्म्म को समूल नाश करना उनका परम कर्तव्य है। ऐसा प्रतीत होता था कि अपने पूर्वजों की नीति के विरुद्ध आचरण करना ही औरङ्गज़ेब की नीति का मूलमंत्र था, इसका परिणाम वही हुआ जो ऐसे कामों का होता है।

द्वेष की शान्त-प्राय आग फिर भड़क उठी। जिस परस्पर प्रेम और सहगामी उन्नति का अकबर के काल से सम्पादन हो रहा था उसका ध्वंस होगया और देश फिर कलह और विद्वेष का क्षेत्र बन गया। जो राजपूत मुग़लों के चिर मित्र और दृढ़-सहायक थे, औरङ्गज़ेब ने उनको अपना पूरा शत्रु बना लिया। जज़िया के कारण तो सभी हिन्दू खिन्न हो रहे थे; राजपूतों के विशेष क्रुद्ध होने के और भी कई कारण थे। एक तो अब मुग़ल दर्बार में उनका पहिला सा समादर न था। दूसरे औरङ्गज़ेब विश्वास-घात करने में कोई दोष ही नहीं समझता था। उसने जोधपूर के महाराजा यशवन्त सिंह जी को काबुल की ओर भेजा। उधर ही उनकी मृत्यु हो गई। उस समय समाट् ने दुर्नीति से उनके शिशु लड़के को स्वहस्तगत करना चाहा। दैव-सहायता से, वीर केसरी दुर्गादास की प्रतिभा और पराक्रम ने इस प्रयत्न को निष्फल कर दिया, पर इस समाचार से समस्त राजस्थान उत्तेजित हो गया। सब राजपूत महाराणा प्रताप के प्रपौत्र वीरशिरोमणि महाराणा राजसिंह के नेतृत्व में यवनों के विरोध पर उद्यत होगये और अन्त में समाट् के लाख २ प्रयत्न करने पर भी राजपूताना स्वतंत्र हो ही गया। यद्यपि आमेराधिपति महाराजा जयसिंह ने खुलकर शस्त्र ग्रहण नहीं किया परन्तु उनकी उदासीनता से भी औरङ्गज़ेब को कम क्षति नहीं पहुँची। राजपूताने के स्वतन्त्र हो जाने से मुग़लों की जो हानि हुई उसको पूरा करना असम्भव था। अभी तक राजपूत जाति कुछ ऐसी मोह-निद्रा में पड़ी थी कि जाति और धर्म्म के विचारों को एक मात्र भुला कर मुग़लवंश की सेवा में तत्पर थी। अब उसके अलग होने से मुग़लों का मानो दक्षिण बाहु ही टूट गया।

परन्तु स्वतंत्र होने के उपरान्त इन राज्यों ने अपनी स्थिति उन्नत करने की कोई विशेष चेष्टा न की। इस के दो प्रधान कारण थे। एक तो ये लोग सैकड़ों वर्षों से मुसलमानों के पक्ष में या उन के विरोध में लड़ते चले आ रहे थे, अतः अब वे बहुत दुर्बल हो गये थे। दूसरे एक ही प्रान्त में इतने स्वतंत्र राज्यों के होने से कलह का होना अनिवार्य्य था। एक और कारण था, जो कृत्रिम होते हुए भी भयङ्कर अनर्थ की जड़ हुआ। जब राजपूत लोग मुग़लों के विरुद्ध खड़े हुए तो जयपुर और जोधपुर के राज्यों ने, जिन के वंश मुग़लों से विवाह कर के कलुषित हो गये थे, यह शपथ खाई कि हमारे वंशों में यदि कई रानियों से उत्पन्न हुए कई लड़के हों तो वही गद्दी पर बैठा करेगा जो उदयपुरी रानी से होगा। यह एक भीषण झगड़े का घर खड़ा हो गया। परिणाम यह हुआ कि राजपूत अपनी सारी शक्ति एक दूसरे के संहार में खोते रहे। उन में कभी किसी प्रकार का संयुक्त सङ्गठन हुआ ही नहीं, और उलटे इस परस्पर के कलह ने उन को इतना जर्जर कर दिया कि वे सहज ही मरहठों के शिकार बन गये। यदि, जिन घटनाओं का आगे के अध्यायों में उल्लेख होगा, उन्होंने भारत की परिस्थिति में परिवर्तन न कर दिया होता तो यह बात निश्चित-प्राय है कि इन में से कई रियासतों का, जिन के राजवंश, कर्नल टाड के अनुसार पृथ्वी के सब से पुराने राजवंशों में से हैं, लोप हो जाता।

दूसरा विद्रोह बुन्देलखण्ड में हुआ। जहाँगीर के समय में धीरसिंह देव ओरछा की गद्दी पर थे। यह सम्राट् के कृपा पात्र थे। इन के देहान्त होने पर महाराजा जुझारसिंह जी गद्दी पर बैठे। उधर दिल्ली में शाहजहाँ बादशाह हुए। इन

दोनों में अनबन हो गई और जुझारसिंह ने बड़ी वीरता के साथ मुग़लों का सामना कर के वीरगति प्राप्त की। उस समय तो मुग़लों की जीत हो गई और ओरछे की गद्दी पहाड़ सिंह को, जो मुग़लों के विश्वासपात्र थे, दे दी गई! पर इस से झगड़ा शान्त न हुआ। जुझारसिंह के एक पितृव्य चम्पत-राय जी ने कुछ स्वातन्त्र्य-प्रिय बुन्देलों को एकत्र कर के मुग़लों का विरोध आरम्भ किया। ओरछा नरेश तो इन के विरोधी थे ही, इस कारण इन को अनेक कष्ट भोगने पड़े और अन्त में विना निजोद्देश-सिद्धि के ही इनके प्राण गये। परन्तु इन के वीरपुत्र छत्रसाल ने स्वराज्य का झण्डा फिर उठाया। उन के विरोधी न केवल सम्राट् औरङ्गज़ेब थे प्रत्युत स्वयं उन के सम्बन्धी ओरछा नरेश और दतिया नरेश भी विपत्ति-दल में थे। परन्तु, "यतोधर्म्मस्ततोजयः"। औरङ्गज़ेब के कई नामी सेनापतियों-तहव्वर ख़ाँ, अनवर ख़ाँ, अब्दुस्समद, बहलोल खाँ प्रभृति को इन से नीचा देखना पड़ा और बुन्देलखण्ड का अधिकांश भाग स्वतंत्र हो गया. छत्रसाल स्वयं एक बृहत् राज्य के स्वामी हो गये, यही राज्य आज कल पन्ना, चरखारी, अजयगढ़, बिजावर, छत्रपुर, सरीला आदि राज्यों और बाँदा, जालौन, सागर, दमोह के अंग्रेज़ी ज़िलों में विभक्त हो गया है। छत्रसाल का देहान्त सम्वत् १७९० के लगभग हुआ. इन के वंशजों ने उस योग्यता का, जो इन में थी, कुछ भी परिचय न दिया। प्रतिफल यह हुआ कि राज-पूताने की भाँति यह प्रान्त भी भाई भाइयों के झगड़े का क्षेत्र बना रहा। और यहाँ भी मरहठों को बड़ा अच्छा शिकार हाथ लगा। इतना ही नहीं, यहाँ की रियासतों के बचे रहने के भी वही कारण हैं जिन से राजपूताने की रियासतें

बची रहीं। और जिन का, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उल्लेख आगे होगा।

तीसरा विद्रोह सत्यनामी साधुओं का हुआ। कुछ दिनों तक तो इन्होंने मुग़लों को बहुत ही तङ्ग किया पर सम्वत् १७३० (सन् १६७३) के लगभग इन का विद्रोह शान्त हो गया।

चौथा विद्रोह सिक्खों का था। जैसा कि सब को विदित है, सिक्ख धर्म्म आरम्भ में केवल एक पारमार्थिक सम्प्रदाय था जिसके सञ्चालक महात्मा नानक जी थे। क्रमशः इन की वृद्धि होती गई पर यह वृद्धि मुसलमानों के लिए इतनी असह्य थी कि उन्होंने सिक्खों का विरोध करना आरम्भ कर दिया। प्रतिफल यह हुआ कि सिक्ख लोग एक योद्धा जाति में परिणत हो गये। आरम्भ में तो मुसलमानों ने मनमाने अत्याचार किये, सिक्खों के गुरु तेग़बहादुर और गोविन्दसिंह के प्राणों का उत्तरदाता मुसलमानों का धार्म्मिक द्रोह ही है। परन्तु गुरु गोविन्दसिंह की ओजस्विनी वाणी ने इन में वह जाग्रति उत्पन्न कर दी थी कि इन को सर्वथा दबा लेना मुसलमानों की सामर्थ्य के बाहर था। इन्होंने औरङ्ग़ज़ेब के पुत्र बहादुरशाह के समय से खुल कर मुग़लों के विरुद्ध शस्त्र उठाया और अन्त में पञ्जाब से मुसलमानी राज्य को मिटा कर ही रहे। इन्हों ने अपने कई दल बना लिये थे। इन को 'मिस्ल' कहते थे। ये मिस्लें एक दूसरे से स्वतंत्र थीं और समय २ पर आपस में भी लड़ पड़ती थीं। परन्तु मुसलमानों के विरोध में सब एक हो जाती थीं। इन्हीं में से प्रसिद्ध महाराजा रणजीत सिंह के राज्य की उत्पत्ति हुई थी और पटियाला, नाभा, झींद, फ़रीदकोट और कपूरथला

के सिक्ख-राज्य भी मिस्लों की कीर्ति के अवशिष्ट चिह्न हैं। इस में सन्देह नहीं कि इन मिस्लों ने बहुत काम किया। छोटे २ दल होने के कारण, मुसलमानी सेनायें इन को पकड़ न पाती थीं पर राजपूतों और बुन्देलों की भाँति इन में भी परस्पर विद्वेष वर्तमान था। प्रतिफल यह हुआ कि जब इन के मेल का कारण, अर्थात् मुसल्मानों का बल, जाता रहा तो इस फूट ने और बल पकड़ा। इस आपस के बैर ने ही पहिले पहिल अंग्रेज़ों को पञ्जाब के राजनैतिक जगत में स्थान दिया। सिक्ख लोग प्रायः जाट जाति के थे। इसी समय के लगभग इन जाटों के दो और राज्य, भरतपुर और धौलपुर भी स्वतंत्र रूप से स्थापित हो गये। इन दोनों में भरतपुर अधिक बड़ा और प्रबल था। उस को राजा सूर्य्यमल ने सम्वत् १८१८ (सन् १७६१) में स्वतंत्र किया था।

परन्तु उस समय का सब से बड़ा विद्रोह मरहठों का था। भारत-भूषण छत्रपति शिवाजी महाराज को नेता मानकर महाराष्ट्र मुग़लों के विरुद्ध खड़ा हो गया। शाइस्ता खाँ ऐसे नामी सेनानियों को भी शिवाजी का लोहा मानना पड़ा। कुछ काल के लिए महाराजा जयसिंह को कुछ सफलता हुई पर दिल्ली से लौटने पर औरंगज़ेब के विश्वासघात और दौर्जन्य से तप्त महाराष्ट्र-केसरी का पराक्रम और भी प्रचण्ड हो गया। अपने पक्ष को दबता देख कर स्वयं सम्राट दक्षिण आये पर मरहठों के उन्नति-प्रवाह को रोकने में वे भी असमर्थ ठहरे। ज्यों २ मुसल्मानों का साहस घटता गया त्यों त्यों मरहठों का उत्साह बढ़ता गया। अन्त में अहमदाबाद में, मरहठों से बीस वर्ष की निरन्तर लड़ाई से श्रान्त, भग्नोद्यम, हतोत्साह और अस्थिर हृदय सम्राट के अशान्त और लोक-दुःखावह

जीवन का प्रदीप निर्वाण को प्राप्त हुआ। बाद के बादशाहों में औरंगज़ेब की योग्यता का सतांश भी न था। फलतः साम्राज्य की सीमा प्रति दिन संकुचित ही होती गई। यहां तक कि बादशाहत का केवल नाम रह गया। जब जिसने चाहा बादशाह को अपने हाथ में करके मुग़ल वंश के नाम से लाभ उठाया।

शिवाजी का देहान्त औरङ्गज़ेब के सामने ही हो चुका था। उनके पुत्र शम्भाजी मुग़लों के हाथ मारे गये थे। अतः उनके पौत्र साहूजी गद्दी पर बैठे। उनके समय में बालाजी विश्वनाथ नामक एक ब्राह्मण 'पेशवा' या प्रधान थे। ये बड़े ही योग्य व्यक्ति थे। पेशवा का पद इनके वंश में पैतृक हो गया। शिवाजी के वंशज सतारा और कोल्हापूर में राज्य करते थे और महाराष्ट्र में श्रद्धा के पात्र थे। पर सब वास्तविक अधिकार पेशवाओं के ही हाथ में था। प्रारम्भ के कई पेशवा अत्यन्त योग्य पुरुष हुए हैं। इनके नेतृत्व में मरहठों की बड़ी उन्नति हुई। सारे दक्षिण, मध्य और पश्चिम भारत में इनकी धाक थी और पूर्व और उत्तर में भी इनका बड़ा प्रभाव था। पेशवा के अधीन कई बड़े सरदार थे जो एक २ प्रान्त में स्व-तंत्र राजा थे। इनमें से गुजरात में गायकवाड़, मालवे में पँवार, मध्य प्रदेश में भोंसले और मध्य भारत में शिंदे और होल्कर प्रधान थे। ये अलग २ अपने राज्यों की वृद्धि करते थे, पर साधारणतः पेशवा के आधीन थे। इस संगठन को महाराष्ट्र संघ (Mahratta Confederacy) कहते थे। इस संघ का बल इतना बढ़ा कि सम्भव था कि सारे भारत में ही मरहठों का साम्राज्य फैल जाता, परन्तु द्वेष की जड़ इन में भी थी। एक तो ये एक दूसरे से जलते थे, दूसरे जब इनके

राज्य बढ़ गए तो पेशवा के अधीन रहना इनको भला न लगता था और तीसरे, मरहठे अन्य हिन्दू जातियों के साथ अच्छा व्यवहार न करते थे। राजपुताने का तो इन्होंने सत्यानास ही कर डाला। इन्हीं कारणों से अंग्रेज़ों को इनके बल को तोड़ने में सुगमता हुई। इनके अतिरिक्त दो प्राचीन हिन्दू राज्य दक्षिण में थे। एक तो त्रावणकोर और दूसरा महिसूर। पहिला तो अब भी ज्यों का त्यों है परन्तु दूसरा, जैसा कि आगे दिखलाया जायगा, अपनी वर्तमान परिस्थिति में अंग्रेज़ों का प्रसाद स्वरूप है।

मुग़लों के ह्रास होने पर दो नूतन मुसल्मानी राष्ट्रों का संगठन हुआ, पहिला अवध में था। आरम्भ में अवध के नवाब लोग मुग़लों की ओर से इस प्रान्त के सूबेदार थे और 'नव्वाब-वज़ीर' इनकी उपाधि थी। पीछे से ये स्वतन्त्र हो गये, यहां तक कि इन्होंने अपनी उपाधि भी बदल डाली और अपने को 'बादशाह' कहने लगे। दूसरा राष्ट्र दक्षिण में था। ये भी प्रान्तिक सूबेदार थे। इनकी उपाधि 'निज़ाम' थी और स्वतन्त्र होने पर भी इन्होंने उसको बदला नहीं। बङ्गाल में एक तीसरा राष्ट्र स्वतन्त्र-प्राय हो चुका था पर नव्वाब सिराजुद्दौला के सेना-नायक मीरजाफर के विश्वासघात और अंग्रेज़ी सेनापति राबर्ट क्लाइव के कौटिल्य ने शैशव में ही उसका ढेर कर दिया।

यहां तक तो देशियों का कथन हुआ। इनके अतिरिक्त यहां उस समय कुछ विदेशी भी थे जिनके अस्तित्व ने देश के इतिहास का रूप ही पलट दिया। पश्चिमीय भारत में पुर्तगाल वालों के कई उपनिवेश थे। इन पर पुर्तगाल वाले स्वतन्त्र शासन करते थे। इनके अतिरिक्त कई स्थानों में डच,

फ्रेंच और अंग्रेज़ लोगों की कोठियां थीं। डच लोगों ने यहां के इतिहास में कोई विशेष महत्व का कार्य्य नहीं किया अतः उनका विशेष वर्णन करना अनावश्यक है पर शेष दोनों का संक्षिप्त पूर्व इतिहास देना अनिवार्य्य है।

सन् १६०० में इङ्गलैण्ड की महारानी एलिज़ैबेथ ने कुछ व्यापारियों को, जिन्होंने मिलकर एक कम्पनी खोली थी, पूर्वीय देशों से व्यापार करने का अधिकार-पत्र दिया। कुछ काल पीछे एक और कम्पनी भी इसी प्रकार व्यापार करने लगी और दोनों में स्पर्धा बढ़ी। अन्त में सन् १७०८ में यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नाम से दोनों एक में मिल गई। ये थे तो व्यापारी पर दूर देश में, और विजातियों के बीच में रहते थे, इस लिये अंग्रेज़ी सर्कार ने इनको स्वरक्षार्थ क़िला बनाने, युद्ध सामग्री रखने और सिपाही भर्ती करने तथा उन प्रान्तों में जहां इनकी कोठियां हों शासन और न्याय करने का अधिकार दे दिया था। बन्धन इतना ही था कि यह कंपनी बिना इंगलिश सर्कार की आज्ञा के किसी ईसाई राष्ट्र से युद्ध नहीं कर सकती थी। भारत में इनकी बंबई, मद्रास और कलकत्ते में मुख्य कोठियां थीं। बम्बई तो इनको पुर्तगाल वालों से मिला था इस लिये वहां किसी देशी राष्ट्र का आधिपत्य न था। शेष कोठियां देशी नरेशों के अधिकार और प्रभाव चक्र के भीतर थीं, वहां पर अंग्रेज़ों ने जो कुछ सेना या सैनिक सामग्री रक्खी थी वह इन नरेशों की आज्ञा से ही। हम आगे चल कर देखेंगे कि देशी नरेशों और कम्पनी के इस प्रकार के सम्बन्ध का क्या परिणाम हुआ?

फ्रेञ्च कम्पनी भी इसी प्रकार सन् १६११ में खुली थी और उसने भी इसी प्रकार देशी राष्ट्रों से अधिकार प्राप्त किये थे।

जो कुछ ऊपर लिखा गया है उस से स्पष्ट है कि मुग़ल साम्राज्य के नष्ट होने के समय, जैसा कि ऐसे अवसर पर होना स्वाभाविक ही है, भारत की दशा अस्थिर सी थी। कई स्वतंत्र राष्ट्र बन गये और बन रहे थे। इन में प्राधान्य हिन्दुओं को ही था। अधिक भाग देश का तो हिन्दुओं के शासन में ही था और होता जाता था और शेष पर उनका प्रबल दबाव पड़ रहा था, इस लिये मुसलमानाधीन प्रान्तों में भी शासकों को हिन्दू प्रजा के साथ अत्याचार करने का साहस न होता था। कुछ लोग यह कह दिया करते हैं कि अंगरेज़ों के पहिले यहां मुसलमान लोग शासक-जाति थे। यदि वे इतिहास को निष्पक्ष होकर पढ़ें तो उन्हें अपना यह विचार निश्चयमेव पलटना पड़े। यदि उस समय भारत के अधिकांश में कोई शासक-जाति थी तो वह हिन्दू-जाति थी। आवश्यकता केवल एक बात की थी—वह यह कि समस्त हिन्दू राष्ट्र किसी प्रकार ऐक्य का अवलम्बन करता। और अपनी शक्तियों का परस्पर-संहार में दुरुपयोग न करके उन को एक ओर लगाता। पर काल-चक्र प्रबल है। ईश्वर की इच्छा सर्वोपरि है। जिस अप्रतिम नाट्यकार ने इस विश्व-लीला का विस्तार किया है वह न जाने किस उद्देश से किस समय कौन सा दृश्य दिखलाता है। हिन्दुओं की यह आवश्यकता पूर्ण न हुई। उन्होंने आपस में लड़ना न छोड़ा और उन के घरेलू विद्वेष ने उनका नीति सम्पन्न जगद्विजयी अंग्रेज़ जाति के अधिकार में डाल दिया। यह परिवर्तन एक दिन में नहीं हुआ, परन्तु जब आरम्भ हुआ तो इसकी प्रगति में रुकावट भी नहीं पड़ी। हम आगे के अध्यायों में इस परि-

वर्तन के उस अंश को देखेंगे जो देशी रियासतों से सम्बन्ध रखता है। यह खेद की बात तो निःसन्देह है कि जिस हिन्दू जाति ने अपने सैकड़ों वर्ष के खोए हुए स्वातंत्र्य को फिर से प्राप्त करके संसार को अपनी पुण्य प्रसूति का प्रमाण दिया उसने इस कष्ट-प्राप्त रत्न को फिर से सहज में ही खो दिया। यह इस जाति का दुर्भाग्य था पर साथ ही इसके हमको इस में ईश्वर की दुर्विज्ञेय और महत्फल प्रदायिनी इच्छा का भी पता लगता है। अंग्रेज़ों से जो सम्बन्ध हुआ है उस देश का बड़ा भारी कल्याण समझा गया होगा तभी वह सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा। अब आगे हम सम्बन्ध के इतिहास का अध्यन करेंगे।

४-देशी राष्ट्र और कम्पनी।

(क)--वलय नीति।

जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, अंग्रेज़ों की नीति में कई बार परिवर्तन हुए हैं। इन भिन्न २ नीतियों में से तीन प्रधान हैं। उनका ही हम क्रमानुसार कथन करेंगे। पहिली का नाम वलय नीति (The Policy of the Ring Fence) था। अंग्रेज़ इतिहासज्ञों का कहना है कि उस समय कम्पनी की यह इच्छा न थी कि उसके राज्य की वृद्धि हो। वह केवल शान्ति-पूर्वक व्यापार करना चाहती थी। परन्तु उसे हठात् ही भारत के राष्ट्रों के घरेलू झगड़ों में हाथ डालना पड़ता था और जीत जाने पर अपने राज्य का विस्तार करना पड़ता था। कई बार तो उसने हाथ में आया हुआ राज्य जाने दिया।

इसकी इच्छा यह थी कि जो कुछ राज्य उसके पास था उसके बाहर के झगड़ों में उसे न बोलना पड़े। अपने इस राज्य के चारों ओर उसने एक प्रकार का वलय या घेरा मान रक्खा था जिसके बाहर वह पैर नहीं रखना चाहती थी। उसकी मनोकामना यह थी कि इस घेरे के बाहर के राष्ट्र उसे न छेड़ें और अपने झगड़े आप ही निपटा लें। अंग्रेज़ों को आशा यह थी कि आपस में लड़ाई झगड़े का परिणाम यह होगा कि दो चार बड़े राष्ट्रों का शासन सारे देश पर हो जायगा, जिस से कि शान्ति का विस्तार और व्यापारादि का सुभीता होगा। अंग्रेज़ी विद्वान् कहते हैं कि इसी नीति का अवलम्बन कम्पनी ने सन् १८१३ (सम्वत् १८७०) तक किया। फिर विवश होकर इसे छोड़ना पड़ा। अब हमको देखना है कि इतिहास कहां तक उनके इस कथन की पुष्टि करता है।

हम सम्वत् १८०५ (सन् १७४८) से अपनी आलोचना आरम्भ करते हैं। उन दिनों दक्षिण भारत में बड़ा गोलमाल मच रहा था। निज़ाम आसिफ़ जाह की मृत्यु के पीछे निज़ामी गद्दी के लिये दो व्यक्ति झगड़ रहे थे। साथ ही इसके कार्नाटिक की नव्वाबी के लिये भी इसी प्रकार का झगड़ा हो रहा था। उधर विलायत में अंग्रेज़ों और फ्रांस वालों में आपस में अनबन थी। फल यह हुआ कि दोनों कम्पनियां यहां भी लड़ पड़ीं और स्वभावतः उन्होंने एक २ दलका पक्ष लेलिया। लड़ने की सामग्री विलायत से लाई गई और यहां प्रस्तुत की गई और लड़ने के लिये कुछ तो अंग्रेज़ सिपाही थे और कुछ देशी सिपाही क़वायद सिखला कर ठीक कर लिए गए।

देशी राष्ट्रों के लिये विदेशियों से सहायता लेना अच्छा न था। यह स्वाभाविक था कि जो विदेशी आज उनकी सहायता कर रहा था कल उन की दुर्बलता से लाभ उठा कर उन को दबाने का प्रयत्न करेगा परन्तु जैसा कि लायल (Lyall) ने कहा है—"None of these rivals could afford to look far ahead or to concern themselves, in the face of emergent needs, with the inevitable consequences of calling in the armed European." इन विरोधियों को, तीव्र आवश्यकता के सामने, इतना अवकाश ही नहीं था कि ये दूरदर्शिता के साथ सशस्त्र यूरोपियन से सहायता लेने के अनिवार्य परिणाम को सोच सकते।" उधर दोनों कम्पनियां सहायता देने के लिये सदा प्रस्तुत थीं। 'लायल' कहते हैं—"The two companies, on the other hand, were under an irresistible temptation drawing them towards proposals that offered pay employment for troops........., with the prospect of trade privileges or even territory, and the "chance of doing some material damage to a rival." दोनों कम्पनियों को प्रचण्ड लोभ उन प्रस्तावों की ओर खींचता था जिनसे कि उनके सिपाहियों को काम और वेतन मिलता था......और जिनसे व्यापार-सम्बन्धी अधिकारों और राज्य को बढ़ाने और एक दूसरे को हानि पहुंचाने की आशा थी।"

उन दिनों फ्रेञ्च कम्पनी का गवर्नर या अधिष्ठाता डूप्ले (Dupleix) था। वह अत्यन्त बुद्धिमान, नीतिकुशल और उत्साही व्यक्ति था। थोड़े ही दिनों में उसने दक्षिण के राज्यों

में अपना सिक्का जमा लिया और अंग्रेज़ी कम्पनी की जड़ उखड़ सी गई। परन्तु फ्रेञ्च गवर्नमेण्ट ने उसकी पर्य्याप्त सहायता न की और इधर अंग्रेज़ों को भी रावर्ट क्लाइव नाम का एक योग्य नेता मिल गया। थोड़े ही दिनों में डूले का किया हुआ सारा काम मिट्टी में मिल गया। अंग्रेज़ों के दिन फिर लौटे। उन्हीं के पक्ष के निज़ाम और नव्वाब, हैदराबाद और कार्णाट की गद्दियों पर बैठे, और फ्रेंच के लोगों की जो कीर्ति फैली थी वह विलीन हो गई। इस युद्ध में अंग्रेज़ों को यूसुफ़ ख़ां नाम के एक सेनापति से बड़ी सहायता मिली थी। यह पहिले हिन्दू था, फिर मुसलमान हो गया। प्रसिद्ध लेखक आर्म (Orme) का कथन है कि वह योग्यता में क्लाइव से किसी भाँति कम न था। अन्त में, कम्पनी के कृतघ्नाचार ने उसे विद्रोही बना दिया। यद्यपि कुटिल नीति का आचरण करके अंग्रेज़ उस से जीत भी गये, परन्तु कई निष्पक्ष अंग्रेज़ लेखकों की सम्मति में उसके साथ कदाचार करके कम्पनी ने व्यर्थ अपने नाम पर धब्बा लगाया।

अस्तु, यही कम्पनी और देशी राष्ट्रों की पहिली मुठ-भेड़ थी। इसमें, अन्त में, कम्पनी को लाभ ही रहा। राज्य-वृद्धि के साथ २ उसका दबाव बढ़ गया और दक्षिण के प्रधान राज हैदराबाद को उसने अपना न केवल मित्र प्रत्युत एक प्रकार का आश्रित आश्रयदाता बना लिया। यह भारत के इतिहास का अत्यन्त रोचक पृष्ठ है, पन्तु इस में कहीं उस 'वलयनीति' का पता नहीं लगता, इसी लिये इसका विस्तार से वर्णन नहीं किया गया। ये बातें दक्षिण की हैं। इनसे कम्पनी की प्रतिष्ठा तो अवश्य बढ़ी, परन्तु नामतः वह अब भी उसी परिस्थित में थी।

उसका प्रभाव भारतीय राजनैतिक जीवन के केन्द्र, दिल्ली, तक नहीं पहुँचा था। बड़े २ देशी राष्ट्रों की दृष्टि में अब भी वह विशेष आदर-पात्र न थी। परन्तु कुछ ऐसी बातें हुईं जिन्होंने कम्पनी को भारत की राजनैतिक नाट्यशाला के पात्रों में एक प्रधान स्थान प्रदान किया और देशी राष्ट्रों के साथ उसका नूतन सम्बन्ध स्थापित कर दिया।

सम्वत् १८१३ (सन् १७५६) में बङ्गाल के सूबेदार अलीवर्दी ख़ां की मृत्यु हुई और उनके स्थान में सिराजुद्दौला सूबेदार हुए। उस समय यह केवल १८ या १९ वर्ष के थे पर इस छोटी अवस्था में भी इनमें असाधारण साहस, देश-प्रेम और उच्चाशय वर्त्तमान थे। दुर्भाग्यतः इनके अमात्य और सेनापति अत्यन्त नीच और स्वार्थरत व्यक्ति थे। इन दुष्टों की सदा यह चेष्टा रहती थी कि युवक नव्वाब को झगड़ों में फँसा कर अपना काम बनाया जाय। गद्दी पर बैठने के थोड़े ही दिनों पीछे कलकत्ते के अंग्रेज़ व्यापारियों से झगड़ा छिड़ गया। इन लोगों ने वहां एक क़िला बना लिया था और अपनी परिस्थिति दिनों दिन स्वतंत्र करते जाते थे। जब उन से यह काम बन्द करने के लिये कहा गया तो उन्होंने कोई सन्तोष-जनक उत्तर न दिया। अन्त में सिराजुद्दौला ने कलकत्ता घेर लिया और शीघ्र ही क़िला उनके हाथ में आ गया। कुछ अंग्रेज़ लेखक ऐसा कहते हैं कि सिराजुद्दौला फ्रांस वालों से मिले हुए थे। इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। हां, मिस्टर बस्टीड अपनी पुस्तक 'एकोज़ फ्राम ओल्ड कैलकटा (Echoes from old Calcutta) में लिखते हैं कि कलकत्ते की ओर आते समय सिराजुद्दौला ने दबाव डाल कर फ्रांस वालों की कोठी से कुछ युद्ध-सामग्री अवश्य ली थी। एक

बात और स्मरण रखने योग्य है। प्रायः सभी अंग्रेज़ लेखक इस लड़ाई के कारण नव्वाब को बुरा भला कहते हैं। परन्तु कुछ निष्पक्ष लोग इस प्रचलित मत के विरुद्ध भी कहते हैं। कर्नल मैलेसन ने 'डेसायसिव बैटल्स आव इन्डिया'(Decisive Battles of India) नामक पुस्तक में नव्वाब का पक्ष बड़ी योग्यता से लिया है और उनकी नीति का समर्थन किया है।

ऐसा कहा जाता है कि कलकत्ते लेने के पीछे नव्वाब ने १४६ अंग्रेज़ों को, जिन में एक स्त्री भी थी, एक छोटी सी काल कोठरी (Black Hole) में बन्द करवा दिया। रात भर में गर्मी, प्यास और सांस लेने के कष्ट के मारे उन में से १२३ मर गए। बहुत से अंग्रेज़ तो ऐसा कहते हैं कि यह भीषण काम नव्वाब के निर्देश से हुआ। बस्टीड प्रभृति कुछ की ऐसी सम्मति है कि नव्वाब को इसका कुछ भी ज्ञान न था, प्रत्युत उन्होंने अपने अंग्रेज़ क़ैदियों के साथ सदैव शिष्ट व्यवहार किया और कुछ अंग्रेज़ और भारतीय इतिहासवेत्ताओं का यह विश्वाश है कि यह काल कोठरी की घटना कभी हुई ही नहीं। प्रत्युत अंग्रेज़ों का क्रोध जगाने के लिए कलकत्ते के क़ैदी अंग्रेज़ों के नेता होल्वेल ने यह कहानी गढ़ ली! जब यह समाचार मद्रास पहुँचा तो क्लाइव कुछ सेना ले कर बङ्गाल आये। यह सेना नव्वाब का सामना करने के लिए सर्वथा अपर्य्याप्त थी। परन्तु सिराजुद्दौला के दो शत्रु अंग्रेज़ों से मिल गये—एक तो उनका सेनापति मीर जाफ़र और दूसरा प्रसिद्ध महाजन सेठ अमीचन्द। जब २३ जून १७५८ को प्लासी के युद्ध-क्षेत्र में दोनों सेनाएं सामने आईं तो बेईमान मीर ज़ाफ़र हाथ पर हाथ धरे देखता रहा। पहिले तो वह सेना के प्रधान अंग

को ले कर तटस्थ खड़ा रहा। उसको यह भय था कि स्यात् नव्वाब जीत ही जाँय और मुझे दण्ड मिले, पर जब अंग्रेज़ों की जीत निश्चितप्राय हो गई तो वह उनसे खुल कर जा मिला। उसकी नीचता का परिणाम यह हुआ कि नव्वाब की हार हुई। अंग्रेज़ों ने मीर जाफ़र को नव्वाब बनाया। हर्ष की बात यह है कि अमीचन्द के हाथ कुछ भी न लगा। क्लाइव ने एक जाली कागज़ द्वारा उसको धोखा दिया और इस शोक में उसने प्राण ही दे दिये। मीर जाफ़र सरता न छूटा। नाम को तो वह नव्वाब था पर अधिकार सारा कम्पनी के हाथ में था। यह दशा इतनी असह्य थी कि मीर जाफ़र ने दो एक बातों में कम्पनी की इच्छा का विरोध करना चाहा। बस, फिर क्या था, कलकत्ते के गवर्नर वैन्सिटार्ट महाशय ने उसे उतार कर उसके दामाद मीर क़ासिम को गद्दी पर बिठा दिया। इस उपकार के बदले गवर्नर और अन्य अंग्रेज़ पदाधिकारियों को कई लाख रुपये नज़राने (या घूंस ?) में मिले थे। साथ ही व्यापार सम्बन्धी अनेक ऐसे नियम बनाये गये जिनसे कम्पनी को लाभ और देशी व्यापार को क्षति हो।

मीर जाफ़र की भाँति मीर क़ासिम विषयलोलुप और हत-पराक्रम न थे। उनसे स्वदेश की यह दशा देखी न गई और उन्होंने अपने को कम्पनी के हाथों में से निकालने का प्रयत्न करना चाहा। कम्पनी को यह बात स्वभावतः अप्रिय लगी। बात यहां तक बढ़ी कि खुल कर लड़ाई छिड़ गई। मीर क़ासिम की ओर से लखनऊ के नव्वाब शुजाउद्दौला भी आये थे। २३ अक्तूबर १७६४ को बक्सर में लड़ाई हुई और नव्वाब की हार हुई। कम्पनी ने मीर

जाफ़र को फिर गद्दी पर बिठा दिया, पर अब नव्वाबी पहिले की भी अपेक्षा गिरी हुई थी। मीर जाफ़र ऐसे व्यक्ति को ही उसका ग्रहण करना शोभा देता था!

एक प्रश्न यह होता है कि इस बात का कारण क्या था कि इन लड़ाइयों में अंग्रेजों की बराबर जीत होती थी। इसका उत्तर 'लायल' ने 'ब्रिटिश डोमिनिअन इन इन्डिया' में दिया है। उनका कथन यह है कि उस समय ये नवाबियां नई थीं और उनके पास अधिकांश किराये के सिपाही थे जो लूट की लालच से लड़ते थे। इनको अपने स्वामी के साथ कोई प्रेम नहीं होता था क्योंकि ये प्रायः विदेशी होते थे। इसी लिये ये दिल लगा कर न लड़ते थे। ये 'लायल' के शब्द हैं— "हम को यह समझना चाहिए कि हम (अर्थात् अँग्रेजों) ने आरम्भ में जिन सेनाओं पर जय प्राप्त की वे किराये के सिपाहियों की भीड़ के तुल्य थी, इन सिपाहियों में न ऐक्य था, और न राज-भक्ति।"

अस्तु, बङ्गाल में तो मीर जाफ़र पुनः स्थापित किये गये, अब अवध का प्रश्न उपस्थित हुआ, क्योंकि अवध के नव्वाब भी बक्सर के युद्ध में सम्मिलित हुए थे। मैलेसन कहते हैं कि उनके पूर्विया सिपाहियों ने लड़ाई में अनुपम साहस दिखलाया था। सम्भव है कि इसी से क्लाइव ऐसे बुद्धिमान् पुरुष ने यह समझ लिया हो कि अवध का जीतना बङ्ग-बिजय के सदृश हँसी खेल न होगा। अवध के नव्वाब को किराये के परदेशी सिपाहियों का सहारा न था। उनकी प्रजा स्वयं बीर, बली और राजभक्त थी। कदाचित् इसी कारण क्लाइव ने अवध में पदार्पण करने का विचार न किया। जो कुछ हो, अवध के साथ १६ अगस्त १७६५ को बराबरी की सन्धि हुई।

अंग्रेज़ ग्रन्थकार कहते हैं कि यह 'वलय नीति' का पहिला उदाहरण था। अंग्रेज़ यदि चाहते तो अवध को ले सकते थे परन्तु उन्होंने बंगाल तक ही, जिस की दीवानी के अधिकार उन्होंने युद्ध के पीछे दिल्लीश्वर से ले लिये थे, अपनी सीमा बाँध ली और उसके बाहर, अवसर और शक्ति होते हुए भी, पाँव न बढ़ाया। उस समय से अवध वालों ने अपनी ओर से कभी अंग्रेज़ों का विरोध न किया। इसी लिये मैलेसन ने सन् १८५६ में अंग्रेजों के अवध छीन लेने को अन्याय-मूलक बतलाया है।

उत्तरीय भारत में बहुत काल तक कोई और उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। हाँ, क्लाइव के उत्तराधिकारी वारन हेस्टिंग्ज के समय में दो छोटी २ लड़ाइयां हुईं। पहिली में काशी-नरेश महाराजा चेतसिंह के राज्य का संहार हुआ और खोखली गद्दी उनके भान्जे महीपनारायण सिंह को मिली। दूसरी लड़ाई में वीर रोहिला जाति के स्वातंत्र्य पर पानी फेरा गया और उनका देश लखनऊ के नव्वाब वज़ीर को दिया गया। इस उदारता के विषय में "लीवार्नर" अपनी पुस्तक "दि नेटिव स्टेट्स आव इण्डिया" The Native States of India) में लिखते हैं "Political rather than moral considerations induced Warren Hastings to annex the Rohilla District to Oudh." "हेस्टिंग्ज ने रोहिला देश को अवध में धार्म्मिक विचारों से नहीं प्रत्युत राजनैतिक विचारों के कारण मिला दिया।" यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह लड़ाई केवल धन-प्राप्ति के लिये की गई थी नहीं तो स्वयं अंग्रेज़ लेखक कहते हैं कि रोहिलों से लड़ने का और कोई कारण था ही नहीं।

इस अवकाश में दक्षिण में कई बड़ी घटनाएं हुईं। इनका विशेष सम्बन्ध मैसूर राज्य से था। यहां एक हिन्दू वंश शासन कर रहा था परन्तु क्रमशः उसका प्रबन्ध इतना दुर्बल पड़ गया कि उसके एक सैनिक हैदर नायक ने तत्कालीन राजा को हटा कर राज्य को स्वहस्तगत कर लिया। वह नितान्त अपठित व्यक्ति था, पर उसका युद्ध-कौशल असाधारण था। थोड़े ही दिनों में उसने मैसूर में एक अत्यन्त बलवती और सुसज्जित सेना प्रस्तुत कर ली। इस कारण दक्षिण के सभी राष्ट्रों की दृष्टि में वह खटकने लगा। सम्वत् १८२३ (सन् १७६६) में हैदर अली ने कार्णाट पर आक्रमण किया। पहिले तो हैदराबाद के निज़ाम ने भी उसका साथ दिया परन्तु १८२४ में वह अलग हो गये और अंग्रेज़ों से जा मिले। उधर कम्पनी ने अपने को उस प्रान्त का रक्षक बना रक्खा था इस लिये उसने हैदर का विरोध किया। कई लड़ाइयों के पीछे, जिनमें कभी एक और कभी दूसरे दल की जीत हुई, हैदर ने यकायक मद्रास को आ घेरा। अंग्रेज़ इस से घबड़ा गये और उन्होंने ३ अप्रैल सन् १७६९ को संधि कर ली। इस संधि के अनुसार उभय पक्ष ने अपने जीते हुए प्रान्तों को लौटा दिया और यह स्थिर किया कि यदि दोनों में से किसी पर कोई तीसरा राष्ट्र आक्रमण करे तो दूसरा सहायता करने के लिये बाधित होगा। इसके थोड़े ही काल पीछे मरहठों ने मैसूर पर चढ़ाई की। हैदर ने सन्धि के अनुसार कम्पनी से सहायता माँगी। कम्पनी ने यह प्रस्ताव अस्वीकार किया। मरहठों को तो हैदर ने रुपया देकर हटा दिया पर अंग्रेज़ों के विश्वासघात से उसका जी जल उठा। इसी अवसर पर विलायत में फ्रांस और इङ्गलैण्ड में लड़ाई छिड़ गई।

हैदर को फ्रांस वालों की ओर से भी उत्तेजना मिली। और ७४ वर्ष की आयु में उसने सन् १७८० में फिर युद्ध आरंभ किया। इस बार भी पहिले की भांति दोनों दलों का पल्ला बराबर ही रहा। बीच में ७ दिसंबर सन् १७८२ को हैदर का देहान्त हो गया, पर उसका पुत्र टिपू सुल्तान उसी योग्यता से युद्ध चलाता रहा। अन्त में, जब १७८३ में यूरोप में अंग्रेजों और फ्रांस वालों में शान्ति पुनः स्थापित हो गई तब भारत में भी १७८४ के ११ मार्च को मँग्लोर में कम्पनी और टिपू के बीच में बराबरी की सन्धि हो गई। इस लड़ाई में टिपू को यद्यपि कोई विशेष लाभ न हुआ, पर कम्पनी की बड़ी हानि हुई। सन् १८१२ में एक सर्कारी रिपोर्ट निकली थी। यह इस समय का वर्णन करते हुए कहती है कि मद्रास में कभी कम्पनी का राज्य था—इस बात की सूचना केवल मारे हुओं की हड्डियों और जलाए हुए घरों की नंगी दीवारों से मिलती थी।

सन् १७८९ में मैसूर से फिर लड़ाई छिड़ी। इसका कारण यह था कि टिपू ने अंग्रेज़ों के मित्र महाराजा त्रावण-कोर पर चढ़ाई की। इस बार कम्पनी को कई बातों का सुभीता था। हैदर अली ने हिन्दुओं को प्रसन्न रक्खा था। कहा जाता है कि टिपू इसके विरुद्ध औरङ्गज़ेब का अनुकरण करना चाहता था। इसी से उसकी हिन्दू प्रजा उसके विरुद्ध थी। धार्मिक सहानुभूति के कारण मरहठे भी उससे अप्रसन्न थे। आर्थिक लोभ में पड़ कर निज़ाम ने मुसलमान होते हुए भी अङ्गरेजों का साथ दिया। अतः उस पर तीन ओर से अङ्गरेज़ी, मरहठी और निज़ामी सेनाओं ने चढ़ाई की। टिपू इस प्रबल शत्रु-दल का सामना न कर सका और सन्धि

करने पर वाधित हुआ। १७९२ में यह संधि हुई। इस से उसका आधा राज्य उसके हाथों से निकल कर तीनों मित्र-राष्ट्रों में बँट गया।

इन तीन युद्धों से मैसूर का झगड़ा शांत नहीं हुआ, प्रत्युत उस अग्नि को कोयला मिलता ही जाता था। १७९५ में मरहठों ने निज़ाम से 'चौथ' नामक कर माँगा। निज़ाम ने अङ्गरेजों से सहायता मांगी पर वह न मिली। बिवश हो कर उन्होंने मरहठों से अकेले लड़ाई की। फल यह हुआ कि वह हार गये और ३ करोड़ रुपया और ३५ लाख रुपये साल की आय का अपना एक प्रदेश दे कर किसी प्रकार छूटे। निज़ाम को सहायता न देना भी यह 'वलय नीति' का एक उदाहरण है पर इससे लोगों के हृदय से अङ्गरेजों का विश्वास उठ गया। उधर योरोप में फ्रांस के प्रचण्ड योद्धा नैपोलियन बोनापार्ट की धूम मच रही थी। उनकी कीर्ति भारत तक फैल चुकी थी और लोग ऐसा समझने लग गये थे कि अब फ्रांस वालों के सामने अङ्गरेज़ नहीं ठहर सकते। इन सब बातों से टिपू को बड़ी उत्तेजना मिली। अङ्गरेजों की ओर अब भी वही पूर्व के दोनों मित्र निज़ाम और मरहठे थे। टिपू ने इस बार बड़ी वीरता दिखलाई और जब उसका क़िला श्रीरङ्गपत्तन लिया गया तब उसने लड़ते २ अपने प्राण दिये। मैसूर राज्य का कुछ भाग तो अङ्गरेजों और निज़ाम ने बाँट लिया (मरहठों को भाग न मिलने का कारण पीछे बतलाया जायगा) और कुछ का एक राज्य बना कर मैसूर के पुराने हिन्दू राज्य वंश को दे दिया गया। यह बात ८ जुलाई १७९९ की है। यह भी 'वलय नीति' का एक उदाहरण है, क्योंकि मैसूर अंगरेज़ी राज्य में नहीं मिलाया

गया। पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह शुद्ध उदाहरण नहीं है; क्योंकि यह नया मैसूर राज्य अवध की भाँति स्वतंत्र नहीं था पृत्युत अंग्रेजों के आधिपत्य में था। उसकी गणना बहिष्परतन्त्र राष्ट्रों में ही न थी, प्रत्युत भीतरी बातों में भी वह पूर्णतया स्वतन्त्र न था।

इस स्थान पर एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण बात का कथन करना आवश्यक है। 'वलय नीति' के बीच में ही एक और नीति चल पड़ी थी जिस ने रियासतों की परिस्थिति में प्रबल परिवर्तन कर दिया। अभी तक कम्पनी से अवध और मैसूर से (हैदरअली और टिपू के शासन-काल में) काम पड़ा था और दोनों से बराबर की सन्धियां होती रहीं परन्तु अब कम्पनी ने तीन नई सन्धियां कीं। इनको आश्रित सन्धियां (Subsidiary treaties) कहते हैं। आश्रित सन्धि का अर्थ यह है कि सन्धि करने वालों में से एक पक्ष अर्थात् देशी राष्ट्र कम्पनी का आश्रित हो गया। अब बराबरी का सम्बन्ध जाता रहा। उस राष्ट्र ने अपने बाह्य राष्ट्रों के साथ सारे सम्बन्धों को कम्पनी के हाथ में दे दिये और अपनी सेना कम कर दी। इसके साथ ही कम्पनी ने उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। इस रक्षा के लिये उसने अपने सिपाही इन राज्यों में रख दिये। इन सिपाहियों का वेतन आदि सारा खर्चा उस देशी राष्ट्र को देना पड़ता था। कुछ दिन तो काम यों चला पर रुपया देने में कई रियासतें असमर्थ हुईं। उनके ऊपर कम्पनी का क़र्ज़ बढ़ता गया। कार्णाट तो इतना उजड़ गया कि घबरा कर वहां के नव्वाब ने टिपू से मैत्री करनी चाही थी। टिपू के पतन होने पर कम्पनी ने उसका राज्य

से लिया। इसी प्रकार ताञ्जोर और सूरत के राज्य भी मिला लिये गये।

यह तो छोटे २ राज्यों की दशा हुई। सन् १८०० में निज़ाम के साथ एक नई सन्धि हुई। उनके ऊपर भी कम्पनी का बड़ा ऋण था क्योंकि टिपू के साथ अन्तिम युद्ध के पहिले से ही वे कम्पनी के आश्रित हो चुके थे। इस नई सन्धि से निज़ाम ने कुड़ापा, कर्नूल और बेलारी के बड़े २ ज़िले कम्पनी को दे दिये और कम्पनी ने उनके रक्षार्थ पहिले से अधिक सेना उनके रियासत में रक्खी।

इसके पीछे तत्कालीन गवर्नर जनरल, लार्ड वेलेसली ने अवध के नव्वाब वज़ीर से इसी प्रकार की सन्धि का प्रस्ताव किया। पहिले तो वे इसे स्वीकार ही नहीं करते थे जब वेलेसली ने बहुत दबाव डाला तब उन्होंने कहा कि मैं गद्दी छोड़ दूंगा। वेलेसली इस बात से बहुत प्रसन्न हुए क्योंकि उन्होंने समझा कि इस बात से उनको अवध में मनमाना काम करने का अवसर मिल जायगा। पर कुछ सोचकर नव्वाब ने गद्दी छोड़ने के विचार को पलट दिया। इस बात से 'लायल' के कथनानुसार, वलेसली को "Astonishment regret and indignation—आश्चर्य्य, शोक और अमर्ष" हुआ। धन्य है इस क्रोध को! राज्य वज़ीर का, था यदि वे उस को नहीं छोड़ते थे या अपनी रक्षा कम्पनी से नहीं कराया चाहते थे तो वेलेसली का क्या जाता था? पर एक देशी कहावत है, 'जबरा मारै, रोवै न दे'—ज़बर्दस्त मारता है और रोने को मना करता है!

वेलेसली बराबर नव्वाब को यही लिखते रहे कि मैं अवध की प्रजा को घोर कुशासन से बचाने की इच्छा से ही

यह सब कर रहा हूं, परन्तु 'लायल' कहते हैं कि उन (वेलेसली) की प्रधान इच्छा यह थी कि अवध पूर्णतया अंग्रेज़ी प्रभाव और दबाव में आ जाय, अंग्रेज़ी राज्य की बहुमूल्य और उपजाऊ वृद्धि हो और अवध की आमदनी से अंग्रेज़ सिपाही रक्खे जायँ। वेलेसली के प्रयत्नों का फल यह हुआ कि १८०१ में नव्वाब वज़ीर से भी इसी प्रकार की सन्धि हो गई और अंग्रेज़ी रक्षा के बदले उन्होंने रोहेलखण्ड और अन्तर्वेद (अर्थात् गङ्गा यमुना के बीच की अत्यन्त उर्वरा भूमि) कम्पनी को दे दिया।

सन् १८०२ में फ़र्रुख़ाबाद के नव्वाब से एक सन्धि हुई जिस से उन्होंने १०८०००) रुपये साल के बदले अपना राज्य कम्पनी को दे दिया।

सन् १८०२ में एक इस से कहीं गुरुतर घटना हुई। पाठकों को स्मरण होगा कि टिपू की मृत्यु के पीछे जब मित्र-राष्ट्रों में मैसूर का बटवारा हुआ तब मरहठों को कोई भाग न मिला। इसका कारण यह था कि कम्पनी ने पेशवा से भी निज़ाम की भाँति आश्रित होने को कहा। उन्होंने यह बात स्वीकार न की परन्तु कुछ काल पीछे उनको आश्रित बनना ही पड़ा। बात यह थी कि अब मरहठों का रहा सहा ऐक्य जाता रहा था। अब खुल कर एक दूसरे के विरोधी हो गये थे। बड़ोदे के गायकवाड़ का राज्य बहुत बड़ा था पर वे अंग्रेज़ों के आश्रित हो चुके थे। शेष में शिंदे, होल्कर और भोंसले अब भी प्रबल थे। ये आपस में भी लड़ते थे, अन्य राष्ट्रों से भी लड़ते थे और अपने नामतः स्वामी पेशवा से भी लड़ते थे। सन् १८०२ में होल्कर ने पेशवा और शिंदे (या सिन्धिया) की संयुक्त सेना को पूना के पास हरा दिया।

पेशवा पूना से भाग कर बम्बई के पास बसीन के टापू में चले आये और वहीं उन से और अंग्रेज़ों से संधि हुई। इस सन्धि के अनुसार वे कम्पनी के आश्रित हो गये। कम्पनी ने उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और अपनी सेना के द्वारा उनको पूना फिर दिलवा भी दिया। यह अवध और निज़ाम की भांति साधारण सन्धि न थी। उस समय भारतीय राष्ट्रों में मरहठे सब से प्रबल थे। इसी प्रबल राष्ट्र के स्वामी ने कम्पनी का आश्रित होना स्वीकार कर लिया। कम्पनी का सिद्धान्त यह था, कि इस बात से समस्त महाराष्ट्र ही आश्रित हो गया। यदि वस्तुतः ऐसा हो, तो कम्पनी के मार्ग का बचा हुआ कण्टक ही दूर हो गया। इसी लिये इस बात को पुष्टि करने के लिये शिंदे, होल्कर और भोंसले को लिखा गया कि वे भी इस बसीन को सन्धि को स्वीकार कर लें। वे स्वभावतः ऐसा करने के लिये प्रस्तुत न थे। उन्होंने यह कहा कि बिना उनसे सम्मति लिये पेशवा को सन्धि करने का अधिकार ही नहीं था। उनका ऐसा कहना अयुक्त नहीं था। कम से कम यदि वे स्वातंत्र्य को योंही बिना युद्ध के खो देते तो यह उनके लिये बड़ी लज्जा की बात होती। मरहठा सर्दारों ने आपस के झगड़े को बन्द कर दिया। उनमें शिंदे सब से बुद्धिमान और देश-भक्त थे। उन्होंने सब को समझाया कि इसमें केवल पेशवा का ही नहीं प्रत्युत सब का अपमान है। इस नीति से कम्पनी ने आज तो पेशवा को अपना आश्रित बना कर अलग कर लिया, कल यही युक्ति दूसरों पर चली जायगी। अतः इस समय मेल को बड़ी आवश्यकता है। नागपूर वालों की समझ में तो यह बात आ गई पर होल्कर की बुद्धि अब भी ठिकाने

न हुई। उन्होंने आपस की लड़ाई तो बन्द कर दी पर मिलना स्वीकार न किया। इसका मुख्य कारण यह था कि वे शिंदे से बुरा मानते थे। शिंदे और भोंसले ने बहुत चाहा कि वे मान जायँ, पर उन्होंने किसी की एक न सुनी। सुनते कैसे, यदि सुन ही लेते तो भारत से कलह और द्वेष का नाम ही न मिट जाता, और यह हमारे भाग्य में ही न था। अस्तु, कम्पनी से और इन दोनों मरहठे राष्ट्रों से १८०३ में युद्ध छिड़ गया। इसको 'द्वितीय' मरहठा युद्ध कहते हैं। इसमें छोटी २ लड़ाइयों के अतिरिक्त असाई, आरगांव और लसवारी की तीन प्रसिद्ध लड़ाइयां हुईं। इनमें अंग्रेज़ों की जीत हुई। इसी युद्ध में जनरल बेलेसली (गवर्नर जनरल के छोटे भाई) ने, जो पीछे से 'ड्यूक आव वेलिङ्गटन' नाम से प्रसिद्ध हुए, पहिले २ नाम कमाया था। ये लड़ाइयां प्लासी की भांति हँसी खेल न थीं। इनमें से प्रत्येक में घोर संग्राम हुआ और अंग्रेज़ों को भारी क्षति पहुंची। मरहठों के हारने का प्रधान कारण यह था कि उनके पास न तो उतनी सामग्री थी और न उतना धन ही जितना कि अंग्रेज़ों के पास था। 'लायल' कहते हैं कि मरहठों ने अपनी सेनाओं में सारा अंग्रेज़ी ढंग कर दिया था, इस से उनके सिपाही बड़े प्रबल हो गये थे, पर इस ढङ्ग के लिये रुपया बहुत चाहिए, यदि उन्होंने अपनी उस पुराने ढङ्ग को रक्खा होता तो अंग्रेज़ों की अधिक हानि कर सकते। दूसरे इस नई ढंग की सेना के लिये नये ढंग के बहुत से अफ़सर चाहिए। थोड़े काल में शिक्षित अफ़सरों की पर्य्याप्त संख्या हो नहीं सकती। मरहठों की सेना में जो फ्रेंच अफ़सर पेरौन आदि थे उन्होंने दग़ा किया। अंग्रेज़ों के पास चले आये। फिर भी 'लसवारी' की लड़ाई के विषय में

अंग्रेज़ी अफ़सर जनरल लेक लिखते हैं, कि शिंदे के सिपाही इतनी वीरता से लड़े कि यदि उनके फ्रेञ्च अफ़सर अब भी उनके साथ होते तो परिणाम कुछ का कुछ होता।

अस्तु, अब शिंदे और भोंसले को संधि करनी ही पड़ी। उन्होंने बसीन की संधि के अनुसार पेशवा का कम्पनी के आश्रित रहना मान लिया। वे स्वयं अब भी अतःस्वतंत्र रहे पर उनकी सीमा के पास अंग्रेज़ी सेना का रहना उनको मानना पड़ा। शिंदे ने यमुना के किनारे का प्रान्त अन्तर्गत दिल्ली का नगर और बम्बई प्रान्त अन्तर्गत अपना सारा राज्य कम्पनी को दे दिया। उधर नागपूर वालों ने कटक का ज़िला अंग्रेज़ों को दे दिया और बरार प्रान्त, जो उन्होंने निज़ाम से छीन लिया था लौटा दिया।

अब यशवन्तराव होल्कर से, जो अपने भाग्यों, विशेषतः शिंदे की दुर्दशा का तमाशा तटस्थ बन कर देख रहे थे, युद्ध छिड़ा। इस युद्ध का नाम भी 'तृतीय मरहठा युद्ध' है। होल्कर के सिपाही भी बड़ी बीरता से लड़े। कर्नल मोनसन के साथ जो सेना गई थी उसका संहार ही हो गया। भरतपूर के राजा होल्कर के मित्र थे। लार्ड लेक ने, जो प्रथम मरहठा युद्ध में इतना यश कमा चुके थे, तीन २ बार भरतपूर के क़िले को लेना चाहा पर तीनों बार उनका मनोर्थ असिद्ध ही रह गया। उनकी तोपें भरतपूर की मिट्टी की दीवारों को हानि पहुंचाने में असमर्थ रहीं। फिर भी प्रान्त में होल्कर की हार ही हुई और उनको भी शिंदे और भोंसले की भांति संधि करनी पड़ी।

इस प्रकार ३ वर्षों में (१८०२ से १८०५ तक) मरहठों का झगड़ा कुछ काल के लिए समाप्त हुआ। वेलेसली बराबर

यही कहा करते थे कि मैं झगड़ा नहीं चाहता, केवल कम्पनी की रक्षा और भारतीय प्रजा के कल्याण के लिये ही यह सब कुछ मुझे विवश होकर करना पड़ता है। परन्तु जिसने ऊपर का संक्षिप्त वृत्तान्त ध्यान देकर पढ़ा होगा, उसे प्रतीत हो जायगा कि उनका इस प्रकार निःस्वार्थ बनना कहाँ तक सत्य था, जैसा कि 'लायल' से उद्धृत किये हुए वाक्य से प्रतीत होता है। स्वयं अंग्रेज़ लेखकों की निष्पक्ष सम्मति यही है कि वेलेसली का लक्ष्य ही यह था कि कम्पनी के प्रभाव, अधिकार, आधिपत्य और राज्य की वृद्धि हो। मरहठा रियासतें अब पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र न रहीं: बङ्गाल और मद्रास के बीच में जो मरहठों का राज्य पड़ता था, जिससे दोनों प्रान्त अलग हो रहे थे, वह जाता रहा। मरहठे अब समुद्र-तट से दूर हो गये जिस से कि उनको बाहर से सहायता मिलना असम्भव हो गया, उनका सङ्गठन टूट गया, और भारत का बहुत सा अत्यन्त उपजाऊ भाग कम्पनी के हाथ में आगया। इसमें सन्देह नहीं कि इस सात वर्ष (१७९८—१८०५) में वेलेसली ने जो २ काम किये अंग्रेज़ जाति को उनका चिर-कृतज्ञ रहना चाहिए।

यहां पर यह प्रश्न उठता है कि वह प्रसिद्ध 'वलय-नीति' इतने दिनों तक कहां चली गई थी? इसका उत्तर देना कठिन है। लार्ड वेलेसली, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, सदैव यही कहते थे कि वह इस नीति का ही पालन करते थे। वे जब देशी राष्ट्रों से झगड़ते थे या संधि करते थे तो अपनी इच्छा से नहीं, प्रत्युत हठात् इनको स्वरक्षा के लिये करना पड़ता था। कई अंग्रेज़ लेखक इनका पक्ष लेकर कहते हैं कि इन्होंने जो कुछ किया वह ठीक ही था:— "For by

swift means or slow by fair means or forcible, the British dominion was certain to expand." 'शीघ्र या शनैः, न्याय से या ज़बर्दस्ती, भारत में अंग्रेज़ी आधिपत्य का बढ़ना निश्चित था।' इसलिये इस निश्चित बात के लिये वेलेसली ने जो कुछ प्रबन्ध किया वह ठीक ही था। उस समय भी बहुत से लोग विलायत में इसी विचार के थे। इन्हीं लोगों के सहारे वेलेसली ने, जिस कम्पनी के वह नौकर थे, उसी के डाइरेक्टरों को जब उन्होंने इस लड़ाई भिड़ाई का विरोध किया तो "A pack of narrow-minded women" सङ्कीर्ण-बुद्धि वाली बुढ़िया स्त्रियों का झुण्ड कहा था।

अब हम भारत के वायव्य कोण की ओर आते हैं। यहां पञ्जाब में लाहौर के रञ्जीतसिंह का राज्य धीरे २ बढ़ रहा था। यह सब को विदित ही है कि क्रमशः इनका राज्य पञ्जाब, कश्मीर और उत्तरीय सिंध तक फैल गया। इतना ही नहीं मगराज अशोक के २१०० वर्ष पीछे यही एक हिन्दू नरेश थे जिन्होंने अफ़ग़ानिस्तान को सर किया। काबुल वालों से ही इनको 'प्रसिद्ध कोहिनूर' हीरा मिला था। पञ्जाब में इनके अतिरिक्त पटियाला, नाभा, झींद आदि भी कुछ छोटे २ सिक्ख राजा थे। ये राज्य सतलज नदी के दक्षिण-तट पर थे और रञ्जीतसिंह का राज्य नदी के उत्तर की ओर था। रञ्जीतसिंह की तो यह इच्छा थी कि समस्त पञ्जाब एक छत्र के नीचे आजाय और यह बात, यदि उनकी इच्छा पूरी हुई होती, तो पञ्जाब के लिये निःसन्देह अच्छी होती। अस्तु, अपने को बचाने के लिये इन राज्यों ने अंग्रेज़ों से सहायता चाही। उधर अंग्रेज़ लोग रञ्जीतसिंह को चिढ़ाना

नहीं चाहते थे। उन दिनों फ्रांस और रूस वालों में मेल था और यह डर था कि रूस वाले उत्तर की ओर से भारत को क्षति पहुंचाने का प्रयत्न करेंगे। इस लिये रञ्जीतसिंह को, जिनके पास प्रबल सेना और बहुत सी युद्ध-सामग्री थी, प्रसन्न रखना ही युक्ति-सङ्गत प्रतीत हुआ। उस समय के गवर्नर जनरल, लार्ड मिएटो, को यह ठीक प्रतीत हुआ कि रञ्जीतसिंह से एक ऐसी सन्धि की जाय जिससे कि दोनों पक्ष फ्रांस वालों के विरुद्ध एक दूसरे की सहायता करने को प्रस्तुत हो जायं। इसी उद्देश से सर चार्ल्स मेटकाफ अंग्रेज़ी प्रतिनिधि बनाकर लाहौर भेजे गये। रञ्जीतसिंह ने उनका अच्छा स्वागत किया, परन्तु बीच में सतलज-पार की रियासतों का प्रश्न आ पड़ा। रञ्जीतसिंह इनको दबाना चाहते थे और अंग्रेज़ बचाना। दोनों पक्ष अपने २ हठ पर अड़े हुए थे पर लड़ना दोनों में से एक भी नहीं चाहता था क्योंकि दोनों को एक दूसरे के बल का पता था। फिर भी, युद्ध की तय्यारियां आरम्भ होगईं और यह डर था कि भयङ्कर युद्ध आरम्भ हो ही जायगा। अन्त में, युद्ध न हुआ और २५ अप्रैल १८०६ को लाहौर में संधिपत्र लिखा गया। यह मरहठों की भांति नहीं था, प्रत्यूत पूर्ण बराबरी का था। दोनों राष्ट्रों ने फ्रांस को भारत की शांति का शत्रु माना। रञ्जीत सिंह ने सतजल के दक्षिण की ओर न चढ़ने का वचन दिया और कम्पनी ने सतजल के उत्तर की ओर हस्तक्षेप न करने का। इसके अतिरिक्त किसी के ऊपर बाहरी या भीतरी किसी प्रकार की भी रुकावट न थी। यह सन्धि भी 'वलय-नीति' का उदाहरण मानी जाती है। जैसे और अवसरों पर कम्पनी ने भारत के भीतर के राष्ट्रों की ओर 'वलय' बनाके

का प्रयत्न किया था उसी प्रकार इस बार भारत के बाहर के पश्चिमोत्तर सीमा की ओर से, सम्भावी शत्रु फ्रांस वाले के विरुद्ध वलय बन गया। अब उधर से आने वाली आपत्तियों और कम्पनी के राज्य के बीच में एक सबल मित्र-राष्ट्र पड़ गया। यदि पञ्जाब मित्र न बनाया जाता तो अवस्था वस्तुतः भययुक्त हो जाती। इसके पीछे 'वलय-नीति' का अन्त हो गया। उसका स्थान दूसरी नीति ने लिया, जिसका कथन अग्रिम अध्याय में होगा। इस नीति का परित्याग तो वेलेसली ने ही कर दिया था पर अभीतक नाम इसी का लिया जाता था। आगे चलकर वह खुल कर छोड़ दी गई।

इस स्थल पर इस 'वलय नीति' की कुछ आलोचना करनी आवश्यक है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है इसका सूक्ष्म तात्पर्य्य यह था कि "कम्पनी अपने राज्य की वृद्धि नहीं चाहती है। वह न तो भारतीय राष्ट्रों से युद्ध करना चाहती है और न संधि। वह केवल शांति चाहती है। उसकी इच्छा केवल इतना ही है कि कुछ राज्य उसका है उस में वह निर्विघ्न शासन कर सके और इसी लिये वह अन्य राष्ट्रों के स्वातंत्र्य में बाधा नहीं डालना चाहती।" इस नीति का पालन किस प्रकार किया गया वह हम ऊपर देख चुके हैं, परन्तु फिर भी कई अवसरों पर अपने आश्रित राष्ट्रों के स्वातंत्र्य को भी कम्पनी ने पूर्णतया नहीं छीन लिया। मरहठों से जो सन्धियाँ हुईं उनके अनुसार वे फ्रांस आदि यूरोपियन राष्ट्रों से सम्बन्ध करने और कम्पनी के हैदराबाद अवध आदि आश्रित मित्रों से लड़ाई झगड़ा करने से रोक दिये गये, परन्तु पञ्जाब और राजपूताने की रियासतों के विषय में वे स्वतन्त्र थे। इन से

जिस प्रकार का सम्बन्ध अभीष्ट हो, करने का उन को अधिकार था। इतना ही नहीं, कम्पनी ने उदयपूर, जोधपूर आदि राजपूत रियासतों से किसी प्रकार की सन्धि न करने का वचन दिया। बीकानेर, भोपाल आदि ने कम्पनी से रक्षा की प्रार्थना की, परन्तु वह स्वीकार न की गई। जो सन्धि-पत्र लिखे जाते थे उन में भी शब्द ऐसे रक्खे जाते थे कि यथासम्भव बड़ाई छुटाई का भाव स्पष्ट रूप से न निकले। बहुत दिनों तक इस प्रकार की नीति का चलना असम्भव था परन्तु जब तक कम्पनी की परिस्थिति पूर्णरूपेण दृढ़ नहीं हो गई थी तब तक यह नीति अच्छी ही थी। जो राष्ट्र बहुत सबल थे, जैसे कि पञ्जाब था, उन के साथ बराबरी का बर्ताव, जो अपने से कुछ दुर्बल तो थे परन्तु नितान्त मरे हुए नहीं थे, जैसे कि मरहठे, उन के साथ मिला जुला बड़ाई और बराबरी का बर्ताव और जो निपट बलहीन थे उन के साथ खुल कर रक्षक का सा बर्ताव—यही युक्तिसङ्गत था। राजपूताने के राज्य कम्पनी के राज्य से दूर पड़ते थे और उन का पक्ष लेने में व्यर्थ मरहठों को अप्रसन्न करना पड़ता था, इस सम्बन्ध में यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि भरतपूर और अलवर राज्य कम्पनी के राज्य के निकट थे और उन दोनों से कम्पनी की संधि थी।

इस बात के लिखने का यह तात्पर्य नहीं है कि कम्पनी ने जो कुछ किया वह केवल स्वार्थ से ही किया। इस में सन्देह नहीं कि उस के नौकरों में भी न्यायशील व्यक्ति रहे होंगे जिन्होंने प्रत्येक काम करने के पहिले उस के धर्म्मसङ्गत होने न होने पर पूर्ण विचार किया होगा। परन्तु वे भी मनुष्य थे और मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है कि वह

पहिले अपने राष्ट्, अपनी जाति, अपने पक्ष का भला सोचे और दूसरों की मूर्खता या पारस्परिक विद्वेष से लाभ उठावे। यह बात धर्म्म के अनुकूल हो या प्रतिकूल, परन्तु पृथ्वी में सदैव राजनैतिक विषयों में ऐसा ही देखा गया है। प्राचीन काल से लेकर इस समय तक साम, दाम, दण्ड और भेद चारों ही राजनीति के अंग माने गये हैं। हम अंग्रेज़ों को साधारण मनुष्य होने से बुरा नहीं मानते, पर, हाँ, यह निःसन्देह कहते हैं कि जो लोग ऐसा कहते हैं कि, वे देवोपम व्यक्ति हैं जो भारत में सदैव से केवल भारत--वासियों के कल्याण की ही इच्छा से काम करते आये हैं और स्वतः पूर्णतया निर्दोष और स्वार्थहीन हैं, वे भूल करते हैं। अंग्रेज़ों को भारत--वासियों के कल्याण की इच्छा भी रही होगी; और कुछ नहीं तो उन के कल्याण से अंगरेज़ी व्यापारियों को ही लाभ होने की सम्भावना थी; पर साथ ही इस के बहुधा अंगरेज़ शासकों के हृदय में स्वराज्य--वृद्धि की भी प्रबल अभिलाषा थी—यह बात निश्चित है।

अन्त में, हम को इस समय कम्पनी और भारत की परिस्थिति भी समझ लेनी चाहिए। जिस समय लाहौर की संधि हुई उस समय, संक्षेपतः, अवस्था यह थीः—पूर्व की ओर सारा बंगाल प्रांत कम्पनी का था। दक्षिण में मद्रास और बम्बई का बहुत सा भाग कम्पनी का ही था। पश्चिम में भी बम्बई ही है। इस के अतिरिक्त सिंध प्रायः स्वतंत्र था। पश्चिमोत्तर में पञ्जाब पूर्णतया स्वतंत्र और मित्र था। उत्तर में नैपाल का स्वतंत्र राज्य था। इस के अतिरिक्त बहुत दूर तक कम्पनी का राज्य था और शेष भाग में कम्पनी के आश्रित मित्र नव्वाब—वज़ीर का राज्य था। मध्यभारत में

मरहठों के दबे हुए किन्तु बली राज्य थे। इन से कुछ और दक्षिण चल कर निज़ाम और मैसूर के आश्रित राज्य और अत्यन्त दक्षिण में त्रावणकोर का आश्रित राज्य था। मध्य-भारत में और उस से कुछ पश्चिम की ओर भोपाल और राजपूताने के राज्य थे जिन से कम्पनी का कोई सम्बन्ध नहीं था। इस से विदित है कि प्लासी की लड़ाई के बाद जो पचास वर्ष से कुछ ऊपर बीते थे (१७५७—१८०९), उन में कम्पनी ने जो उन्नति की थी वह किसी प्रकार असन्तोष-जनक नहीं थी।

५--कम्पनी और देशी राष्ट्र।

ख —आश्रित पार्थक्य।

हम ऊपर देख चुके हैं कि कई कारणों से कम्पनी 'वलय नीति' का परित्याग करती जा रही थी परन्तु नाम के लिये अभी उसका ही अवलम्बन किया जाता था। यह प्रथा १८१३ तक चली गई। सन् १८१४ से एक नई नीति ने, जो अस्पष्ट रूप से पहिले ही कार्य्य-क्षेत्र में आ चुकी थी, 'वलय नीति' का स्थान लिया इसका नाम 'आश्रित पार्थक्य नीति' "The Policy of subordinate Isolation" है, इसका तात्पर्य यह था 'अभी तक कम्पनी की इच्छा यह थी कि जहाँ तक हो सके देशी राष्ट्रों के साथ उसे किसी प्रकार का सम्बन्ध करना न पड़े। जहाँ उसका राज्य था या जो दो चार रियासतें उस पर आश्रित थीं उनके राज्य के बाहर चाहे जो हो कम्पनी को उस से कोई सरोकार न था, पर अब ऐसा

देख पड़ा कि इस प्रकार काम नहीं चल सकता, राष्ट्रों के आपस के झगड़ों के कारण सारे देश में अशान्ति फैल रही थी, अतः अब कम्पनी ने सारे देश पर अपना अधिपत्य फैलाना ही उचित समझा। बिना इसके देश का कल्यायण हो नहीं सकता था। अब यह नियम निकला कि जितनी भी रियासतें हैं वें सब कम्पनी की आश्रित बना ली जायँ। कम्पनी उनकी रक्षा का भार अबने ऊपर ले और रियासतें इसके बदले या तो कुछ भूमि दें या वार्षिक कर दिया करें। इसके साथ ही कपनी उनके भीतरी प्रबन्ध से कुछ सम्बन्ध न रक्खेगी। अंत में, रियासतें एक दूसरे से एक मात्र पृथक रहेंगी। सिवाय साधा-रण पत्र-व्यवहार के उनका और किसी प्रकार का सम्बन्ध न होगा। यदि कोई ऐसी बात हो जिसमें दो रियासतों में मत-भेद हो तो दोनों को इसका निर्णय कम्पनी के ऊपर छोड़ देना होगा और जो कुछ वह निश्चित करे उसे मानना होगा।'

इस से स्पष्ट है कि इस नीति से परस्पर झगड़ों की सम्भावना और अशान्ति के कारणों का ह्रास हुआ और साथ ही रियासतों के स्वातंत्र्य में भी बहुत कुछ कमी हो गई। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। हम पहिले ही बतला आये हैं कि मुग़ल साम्राज्य के नष्ट होने पर कई प्रबल राष्ट्रों की उत्पत्ति और हिन्दुओं में बहुत कुछ राजनैतिक जाग्रति हुई पर लोगों ने ऐक्य का पाठ न सीखा। राजपूत राजपूत से लड़ते रहे, सिक्ख सिक्ख से लड़ते रहे और मरहठे सब से लड़ते रहे। जब कम्पनी के बीच में पड़ जाने से कई द्वार बन्द हो गये और लड़ाई का क्षेत्र सङ्कीर्ण हो गया तब झगड़े और भी तीव्र हो गये। इनमें सब से अधिक क्षति राजपूतों की हुई। एक तो मुसलमानी काल से ये दुर्बल होते आ रहे थे दूसरे मरहठों के धक्कों ने

इनकी पूरी दुर्दशा और भी कर दी। उदयपूर की राजकुमारी कृष्णकुमारी का वृत्तान्त बहुत लोगोंको स्मरण होगा, जिसने यह देख कर कि उससे विवाह करने के लिये जयपूर और जोधपूर के नरेश, मरहठों की सहायता से एक ही साथ पहुंचे थे और राज्य ही नष्ट करने वाले थे, अपने देश की रक्षा के लिये अपने हाथ से विष पी लिया। यह उस समय का चित्र था। विवाह ऐसी तुच्छ बातों के लिये लाखों मनुष्यों का सुख मिट्टी में मिला दिया जाता था, ऐसी अवस्था में कम्पनी का, जो उस समय के सब राष्ट्रों से प्रबल थी और उन के आपस के वैमनस्य से लाभ उठा सकती थी, उन सब पर आधिपत्य हो जाना अनिवार्य्य था; इतना ही नहीं, वह उन राष्ट्रों के लिये—कम से कम छोटी रियासतों के लिये, अच्छा भी था। यदि छोटी रियासतों के टूटने पर दो चार प्रबल शान्ति-वर्द्धक राष्ट्रों का उदय होता तो ठीक था, पर जब इस की कोई सम्भावना ही नहीं थी तो यही उचित था (जैसा कि हुआ) कि छोटे बड़े सभी राज्य एक आधिपत्य के नीचे आ जाँय और चुपचाप अपनी २ उन्नति करें।

इस नवीन पद्धति का प्रचार लार्ड मोइरा जो लार्ड हेस्टिङ्गज् (Lord Moira, better known as lord Hastings) भी कहलाते थे, आरम्भ किया। पहिले २ इन से नैपाल राज्य से मुठभेड़ हुई। इस देश में गुरखों का राज्य था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह एक अत्यन्त वीर और पराक्रमी जाति है। नैपाल की दक्षिणी सीमा अवध की उत्तरी सीमा से मिली हुई थी। इस सीमा पर बहुधा तकरार हुआ करती थी। कई बार लिखा-पढ़ी हुई परन्तु उस से कुछ लाभ न हुआ। इसी बीच में नैपालियनों ने गढ़वाल

की ओर किसी अंग्रेज़ी ज़िले का कुछ भाग दबा लिया। बस इसी बात पर लड़ाई छिड़ गई। कई सर्कारी पल्टनें भेजी गईं। उन में से एक जिस के सेनापति जनरल आकूरलोनी (General Ochterlony) थे, नैपाल में घुसने में समर्थ हुई, शेष बीच में ही कट गईं। नैपालियों की सेना के पास अच्छी युद्ध-सामग्री न थी पर उन्होंने अत्यन्त बीरता का परिचय दिया। अन्त में, ४ मार्च १८१६ को दोनों रियासतों में सन्धि हो गई। इस के अनुसार नैपाल राज्य ने कुछ भूमि कम्पनी को दे दी, पर इस का एक अंश सन् १८६० में लौटा दिया गया, उस में यह भी नियत हुआ कि नैपाल सर्कार बिना अंग्रेज़ी सर्कार की सम्मति के किसी जाति के यूरोपियन या अमेरिकन को नौकर न रक्खे पर उस की सेना आदि पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाली गई। दोनों रियासतों के राजदूत एक दूसरे के यहाँ रहते हैं। बाह्य बातों में भी नैपाल दर्बार स्वतंत्र है। और किसी राष्ट्र से तो उस से काम पड़ता नहीं पर चीन और तिब्बत की सर्कारों से वह बराबर व्यवहार रखता है, अंग्रेज़ों से संधि होने के पीछे उस ने एक बार, बिना अंग्रेज़ों की सम्मति पूछे, तिब्बत से युद्ध और पीछे से संधि की थी, अतः उस की परिस्थिति और रियासतों से भिन्न है। वह एक स्वतंत्र राष्ट्र है।

इस संधि के अनुसार शिकम का राज्य, जो नैपाल और भूटान के बीच में है, नैपाल के आधिपत्य से निकल कर कम्पनी के आधिपत्य में आ गया, परन्तु वह वह नैपाल की भाँति सबल नहीं था। उस के साथ बराबरी का बर्ताव करना आवश्यक न था। इस लिये उस के साथ १८१७ में जो संधि-पत्र

लिखा गया उस के अनुसार शिकम कम्पनी के आश्रित राज्यों की कोटि में आ गया और यह आश्रित सम्बन्ध भी पुराने ढङ्ग का न था। शिकम के साथ जो सन्धि हुई, वह उपर्य्युक्त आश्रित पार्थक्य का पहिला उदाहरण है—शिकम अब पूर्णतया बहिष्परतंत्र हो गया

उत्तरी भारत से हम को फिर मध्य भारत की ओर आना पड़ता है। इस प्रान्त की परिस्थिति का कथन पहिले हो चुका है। हम बतला चुके हैं कि यहां शिंदे, होल्कर और भोंसले आश्रित अवस्था में थे, पर इनका स्वातन्त्र पूर्णरूपेण नहीं छिन गया था। अब हम इस प्रदेश के एक नये समाज का वर्णन करेंगे। इसका नाम 'पिण्डारी' था। ये लोग निरे लुटेरे थे। न तो इनका कोई राज्य था न कोई शासन था। सिवाय डाका मारने के इनका और कोई काम नहीं था, पर यह साधारण डकैत न थे। इनके सर्दार अमीर ख़ां के साथ तीस सहस्र सवार थे। एक दूसरा सर्दार चित्तू दस सहस्र सवारों का नायक था। इतनी बड़ी सेनाओं को लेकर ये लोग एक रियासत से दूसरी रियसत में घूमा करते थे। सिवाय मरहठे राज्यों के ये सभी जगह लूटमार करते थे। मरहठों को छोड़ देने का कारण यह था कि मरहठा राजे इनको छिप कर सहायता देते थे और पिण्डारी लोग भी उनके एक प्रकार के गुप्त नौकर थे। जो सिपाही किसी राष्ट्र के नौकर होते हैं वह प्रायः कुछ न कुछ सभ्य और शिष्ट होते हैं, परन्तु पिण्डारी लोग डाकू थे। उनका कोई विशेष नियत स्थान न था और सभी उनके शत्रु थे। इस लिये ये बड़े ही क्रूर और कठोर हृदय थे। अंग्रेज़ी राज्य और मरहठों को छोड़ कर अन्य आश्रित राज्यों में ये लोग धावा मार २ कर बड़ा धन ले जाया करते थे। अन्त में

इनका अत्याचार इतना बढ़ा कि कम्पनी को ध्यान देना ही पड़ा। जिन दिनों नैपाल से युद्ध हो रहा था, पिण्डारियों ने मद्रास के कई ज़िले लूट लिये और हैदराबाद रियासत को भी बड़ी हानि पहुँचाई। जब और किसी युक्ति से काम न चला तब लार्ड हेस्टिङ्ग्ज़ ने इनके विरुद्ध एक सेना भेजी। तीन महीने की लड़ाई के पीछे इनका बल टूट गया। यदि मरहठों की सहायता न होती तो ये इतने दिनों में भी न लड़ सकते। फिर भी, जैसा कि करना चाहिए था कम्पनी ने इन डाकुओं का नष्ट नहीं किया। इनमें जो सब से प्रबल सर्दार, अमीर खां, था उसको नीति से अपनी ओर मिला लिया गया। उसको टोंक का प्रांत। दे दिया गया। और वह वहां का आश्रित नव्वाब बना दिया गया। कुछ दिन पीछे उसके साले को भी 'जावरे' की नव्वाबी इसी प्रकार मिली। 'टोंक' और 'जावरा' दोनों हाल्कर के राज्य के टुकड़े थे और इन सर्दारों का इन पर कुछ भी अधिकार न था। इन पर डाकू का क्या किसी वस्तु पर भी अधिकार नहीं हो सकता। पर लार्ड हेस्टिङ्ग्ज् ने इनको नव्वाब बनाना ही उचित समझा। इस युक्ति से पिण्डारियों का बल टूट गया, क्योंकि उनका सबसे बड़ा सर्दार अलग हो गया और मरहठों का-विशेष कर हाल्कर का, भी बल घट गया। होल्कर का तो राज्य भी कम हो गया। अस्तु, चित्तू कुछ काल के पीछे लड़ता भिड़ता किसी जंगली पशु द्वारा मारा गया और तीसरे सर्दार करीम ने क्षमा माँग ली। इस प्रकार यह झगड़ा समाप्त हुआ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अमीर ख़ाँ के नव्वाब बनने पर 'टोंक' के साथ 'आश्रित पार्थक्य' नीति के अनुसार ही सन्धि की गई।

पिण्डारियों का बल तो दमन हो गया पर इस बीच में और कई महत्व-पूर्ण बातें हुईं। यह हम कह चुके हैं कि पिण्डारियों का मरहठों के साथ गुप्त सम्बन्ध था। यह भी लिखा जा चुका है कि राजपूत राज्यों के विषय में मरहठे स्वतंत्र थे और कम्पनी राजपूत राज्यों से सम्बन्ध न रखने का बचन दे चुकी थी। लार्ड हेस्टिङ्गज् को ये दोनों बातें इष्ट न थीं। वह समझते थे कि इन बातों से देश में अशान्ति फैलती है और कम्पनी का गौरव घटता है। इस लिये पिण्डारियों के झगड़ों के आरम्भ होते ही मरहठों के दीर्घकालीन रोग की औषधि करने का भी दृढ़ विचार कर लिया गया।

सब से पहिले पेशवा का निबटारा हुआ। १३ जून १८१७ को उन्होंने एक संधि-पत्र लिखा। इसमें दो तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। परन्तु सब से बड़ी बात यह थी कि पेशवा ने स्पष्ट रूप से अन्य मरहठा राष्ट्रों से अपना सम्बन्ध छोड़ दिया और यह स्वीकार कर लिया कि महाराष्ट्र संघ (Mahratta Confederacy) जिसके वे अब तक स्वामी माने जाते थे टूट गया। सन्धि की इस धारा का बड़ा प्रभाव पड़ा। अभी तक मरहठे अवसर पड़ने पर एक हो सकते थे। कम्पनी के आश्रित होने पर भी वह अपने को एक राष्ट्र और पेशवा को अपना नेता मानते थे। अब वह बात जाती रही। ऐक्य का सूत्र ही टूट गया। अब रियासतें एक दूसरे से पृथक हो गईं। इस सर्वोपरि धारा के अतिरिक्त एक और धारा थी जिसका फल आगे चल कर निकला। इसके थोड़े ही दिन पहिले गायकवाड़ का, जिनसे पेशवा से कुछ अनबन थी, राजदूत पूना में मार डाला गया था। कम्पनी ने गायकवाड़ का पक्ष लिया था। बात यह थी कि गायकवाड़ प्रति वर्ष

पेशवा को कुछ कर दिया करते थे। अब इस संधि में पेशवा ने गायकवाड़ पर से अपने सारे अधिकार हटा लिये। इसके साथ ही उन्होंने काठियावाड़ के राजपूत राज्यों से कर आदि लेने का सारा अधिकार कम्पनी को दे दिया।

यह सब तो हुआ पर इस प्रकार परतंत्र बन जाना उनको अच्छा न लगा। उनके हृदय में यह बात खटकती ही रही। अन्त में इसके लगभग पाँच महीने पीछे वह खुल कर लड़ पड़े। दो चार छोटी २ लड़ाइयों के पीछे ५ नवम्बर को वह 'किर्की' की लड़ाई में हार गए और अच्छे बर्त्ताव का वचन पाकर उन्होंने कम्पनी को आत्मसमर्पण कर दिया। सोच विचार कर लार्ड हेस्टिंगज् ने उनका सारा राज्य ले लिया और उनको पेंशिन देकर कानपूर के पास बिठूर भेज दिया। उन्हीं के लड़के ' नाना साहब ' सन् १८५७ के विद्रोह के नेताओं में से थे।

हम कह चुके हैं कि किर्की की यह लड़ाई ५ नवम्बर १८१७ को हुई। उसी दिन ग्वालियर में शिन्दे से नई संधि हुई। स्वयं लार्ड हेस्टिङ्गज् एक बड़ी सेना लेकर ग्वालियर गए थे। इस संधि में सब से बड़ी बात यह थी कि शिंदे ने राज-पूत रियासतों पर से अपना अधिकार हटा लिया और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इन राज्यों के साथ यथेच्छ सम्बन्ध करने का अधिकार और भार अपने ऊपर लिया। इस का तात्पर्य यह हुआ कि अब ग्वालियर का भी स्वातंत्र्य जाता रहा और वह भी 'आश्रित पार्थक्य' के नियम के भीतर आ गया।

इस के पीछे नागपूर के भोंसले की बारी आई। यह अंग्रेज़ी रेज़िडेण्ट पर चढ़ दौड़े, परन्तु अत्यन्त वीरता दिख-

जाने पर भी इन के सिपाही सीताबल्दी को लड़ाई में हार गये। इस के पीछे भी कुछ काल तक इन के साथ झगड़ा चला गया। अंत में यह भी आश्रित ही हुए। इन को बहुत सा राज्य देना पड़ा और सेना इत्यादि के विषय में भी और राज्यों की अपेक्षा अधिक परतंत्र हो गए।

अन्त में बड़े राज्यों में होलकर रह गए। इन की सेना भी कई छोटी २ लड़ाइयों के पीछे महीदपूर में हार गई और मन्दसोर में ६ जून १८१८ को इन से भी नई संधि हुई। इस के अनुसार यह भी 'आश्रित पार्थक्य' नीति में आ गए। इसी प्रकार धार और देवास की पँवार रियासतें भी पूर्णतया आश्रित कर ली गईं। अब गायकवाड़ का राज्य बच रहा। यह आश्रित तो पहिले से ही था परन्तु काठियावाड़ और गुजरात के कई राजपूत राज्यों से इस का सम्बन्ध था। उन से यह कर लिया करता था। इस कर को एकत्र करने में, जैसा कि आगे चल कर दिखलाया जायगा, बड़े झगड़े उठते थे। ३ अप्रैल १८२० को जो नई संधि कम्पनी और गायकवाड़ के बीच में हुई उस से ये झगड़े बंद हो गए। अब गायकवाड़ का इन से स्वतः सम्बन्ध टूट गया। इन राज्यों पर दबाव डालने का अधिकार उन से ले लिया गया और इस के स्थान में कम्पनी ने यह वचन दिया कि वह उन जागीरदारों और रियासतों से रुपया एकत्र कर के गायकवाड़ को ठीक समय पर दे दिया करेगी।

लिखने में इन घटनाओं ने बहुत ही कम स्थान लिया है, परन्तु इन के महत्व को इस बात से न मापना चाहिए। वस्तुतः १८१७ से १८२० तक के तीन वर्ष के काल में भारत

की राजनैतिक परिस्थिति में बड़ा प्रबल परिवर्तन हो गया। मरहठों का बल एकमात्र टूट गया। उन का संघ जाता रहा; उन के संघ के स्वामी, पेशवा, कम्पनी से पेंशन लेकर अपना जीवन निर्वाह करते थे; शिवा जी के वंशज कम्पनी के पूर्ण आश्रित थे; गायकवाड़ का स्वातंत्र्य चला गया था; नागपूर के भोंसले अपना हाथ पैर कटवा चुके थे और शेष दो सबल मरहठा राज्य—ग्वालियर और इन्दौर—चारों ओर से जकड़ दिये गये थे। अब कम्पनी को मरहठों की ओर से सारा खटका जाता रहा।

मरहठों के बल के टूटने पर लार्ड हेस्टिङ्गज् को राजपूताना, मध्यभारत और गुजरात के सम्बन्ध में स्वातंत्र्य मिल गया। हम लिख चुके हैं कि अभी तक कम्पनी की केवल अलवर, भरतपूर के साथ सन्धियां थीं। अब शेष सभी रियासतें धीरे २ आश्रित वर्ग में लाई गईं। क्रमशः करौली, कोटा, जोधपुर, उदयपुर, बूंदी, बीकानेर, किशनगढ़, जयपूर, प्रतापगढ़, डूँगरपूर, जैसलमेर और बाँसवाड़ा के साथ सन्धियां हो गईं। कोटा के इतिहास की एक घटना इस जगह लिखने योग्य है। कोटा के राजा और उनके मन्त्री से अनबन होगई। दोनो का पक्ष सबल था, इस लिये कोटा राज्य के दो टुकड़े कर दिए गए। इनमें से छोटा हिस्सा, जिसका नाम झाला-वाड़ पड़ गया, मन्त्री के वंशजों को दे दिया गया। १८३८ में यह राज्य भी कम्पनी का आश्रित हो गया। लगभग ५० वर्ष पीछे झालावाड़ के तत्कालीन महाराजा से किसी कारण गवर्न्मेंएट से अनबन होगई। अतः वह गद्दी से उतार दिए गए और उनके राज्य का एक अंश फिर कोटा में मिला दिया गया, शेष राज्य 'झालवाड़' के नाम से १८९९ में फिर सङ्ग-

ठित किया गया। उतारे हुए राजा काशी में रहते थे और यहीं उनका देहान्त हुआ।

राजपुताने के पीछे मध्यभारत का प्रबन्ध आरम्भ हुआ। पहिले भोपाल से सन्धि हुई। १६ फरवरी १८१८ की सन्धि के अनुसार भोपाल आश्रित राज्यों की श्रेणी में आया। फिर मालवा के रतलाम, नरसिंहगढ़ आदि राजपूत रियासतों से सन्धियां हुईं। इनमें से कई राज्य मरहठों को कर देते थे। कर अब भी दिया जाता है। पर गवर्न्मेंएट इनसे इकट्ठा करके मरहठा रियासतों को देदिया करती है। अर्थात्, गवर्न्मेंएट इनके और इनके मरहठा अधिपतियों के बीच में आ पड़ी है। ऐसी रियासतों को अंग्रेज़ी में Mediatized Sattes कहते हैं, बुन्देलखण्ड में कई रियासतों की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। आपस के झगड़ों ने इनको बड़ा ही दुर्बल कर रक्खा था। इनकी परिस्थिति ऐसी न थी कि इनके साथ सन्धि की जाय, क्योंकि सन्धि करने वालों में कुछ न कुछ बराबरी होनी चाहिए, अतः इनको गवर्नमेंएट ने अपनी ओर से सनद दिए और सनद देकर इनके राज्यों पर इनके अधिकार को पक्का किया। इनको सनदी राष्ट्र (Sanad States) कहते हैं। खेद की बात है कि पूज्य महाराज छत्रसाल के वंशजों ने अपनी रियासतों को सनदी राष्ट्रों की कोटि में गिरा दिया।

राजपूताने में केवल सोलह सत्रह राष्ट्र थे और वे सब सन्धि वाले, परन्तु मध्य भारत में इनकी संख्या लगभग १५० के है, जिनमें से केवल आठ 'सन्धि' राष्ट्र है शेष सब या तो Mediatised राष्ट्र या सनदी राष्ट्र हैं। इस प्रान्त में इतने

राज्यों के होने का ही यह फल है कि चार पांच को छोड़ कर इस प्रदेश के सभी राज्य राजपुताने के राज्यों से छोटे, कम बल वाले और कम वार्षिक आय वाले हैं।

फिर गुजरात और काठियावाड़ की बारी आई। यहां पेशवा के अधिकार तो कम्पनी को १८१७ में मिल ही गए थे, १८२० में गायकवाड़ के साथ की नई सन्धि ने और भी स्वातंत्र्य दे दिया। इन रियासतों में कई ऐसी थीं जो समुद्र के किनारे थीं। इनके यहां कई डकैत थे, जो जहाज़ों पर सवार होकर व्यापारियों के जहाज़ों को लूटा करते थे। इन से इस प्रकार की डकैती को बन्द करने के लिये सन्धियां हुईं। इनके अतिरिक्त अन्य रियासतें भी आश्रित कोटि में लाई गईं पर ईडर को छोड़कर, इनमें कदाचित् ही कोई ऐसा राज्य था जो नियमित सन्धि के योग्य हो। अब यहां कई राज्य बड़े समृद्धि-शाली हो गए हैं, पर तब यह दशा न थी। इन में से कई राज्य या राष्ट्र क्या थे, खेल थे। कोई २ तो एक या दो गांव के थे। प्रत्येक वर्ष गायकवाड़ के यहां से एक सेना, जो मुल्कगीरी सेना कहलाती थी, इनसे कर इकट्ठा करने जाती थी और जब तक सारा कर एकत्र न हो जाता इन्हीं के खर्च से खाती थी। उसका व्यय इनमें बँट जाता था। राज-पूतों और मरहठों में बनती तो थी ही नहीं, हर साल ही झगड़ा होता था। अब कम्पनी के प्रबन्ध से यह सब बन्द हो गया। पर इस प्रकार के राष्ट्रों की संख्या का क्या कहना है। गुजरात में मध्यभारत से भी अधिक रियासतें हैं। इन में से बहुतों की दशा मध्य भारत की रियासतों से भी गई बीती है। भला एक दो गांव की रियासतें क्या स्वतंत्र रूपेण शासन करेंगी? इसी लिये बहुत बड़े २ राज्यों को छोड़ कर, छोटे २

राज्यों के शासन की देखभाल बहुत कुछ अंग्रेज़ी अफ़सरों को करनी पड़ती है। कई रियासतों के लिये एक अफ़सर पर्य्याप्त होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इनमें से अधिकांश रियासतें कितनी दुर्बल हैं।

अन्त में, कच्छ का प्रबन्ध हुआ। यह राज्य जारेजा राजपूतों का है। यों तो सभी राजपूत राज्यों में राजा के सगोत्रि-वर्ग का बहुत कुछ प्रभाव होता है—यहां तक कि राजा भी एक प्रकार से उनका प्रतिनिधि सा माना जाता है, पर इस राज्य में इन सम्बन्धियों या 'भायदों' का प्रभाव बहुत ही चढ़ा बढ़ा था और अब भी है। इसका कारण यह था कि कच्छ एक द्वीप है। समुद्र ने उसको बाहरी आक्रमाणों से बचा रक्खा था। बस बाहरी शत्रु का भय न होने से भायदों को आपस में मिला कर रहने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत न हुई और वे एक दूसरे से और राजा से लड़ते रहे। पहिले पहिल १८०९ में डकैती बन्द करने के लिये उस से सन्धि हुई थी पर १८१९ में दूसरी सन्धि की आवश्यकता हुई। इस सन्धि से कच्छ भी आश्रितवर्ग में आ गया। कच्छ के भायदों की प्रबलता का प्रमाण यह है कि इस सन्धि की सोलहवीं धारा के अनुसार गवर्न्मेंण्ट ने कच्छ के राजपूत जागीरदारों में से प्रत्येक की जागीर की स्थिति के लिये अपने को उत्तर-दात्री बनाया और इन जागीरों के लिये इन से अलग २ इक़ारनामा लिखाया। इन जागीरदारों की संख्या २०० थी। इसका तात्पर्य्य यह निकला कि गवर्नमेंण्ट को एक राजा से ही नहीं २०० सर्दारों से भी सन्धि करनी पड़ी!

इस अध्याय की समाप्ति के पहिले एक और बात का कथन करना है। अभी तक अवध के नव्वाब लोग 'नव्वाब

वज़ीर' कहलाते थे। यह उपाधि देहली के सम्राट् ने इनके पूर्वज को दी थी और स्वतन्त्र होने पर भी यह लोग अभी तक इसको धारण करते आये थे। १८१६ में 'नव्वाब वज़ीर' को कम्पनी ने 'बादशाह अवध' कह कर सम्बोधित किया। अब मानों दिल्ली से नाम मात्र का जो एक सम्बन्ध का तागा चला आता था वह भी टूट गया। साथ ही इसके कम्पनी का महत्व और भी बढ़ गया। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि दिल्ली के सम्राट् का स्थान कम्पनी ने ले लिया और वह जिसको चाहे जो पदवी दे सकती है।

कुछ काल के लिये घटनाओं की माला यहां समाप्त होती है। १८१७ से लेकर १८२१ तक चार वर्ष में भारत का राजनैतिक काया पलट हो गया। मरहठों का साम्राज्य-स्वप्न उनके हृदयों में ही बिलीन हो गया। राजपूत रियासतें, जो मरहठों से और आपस में लड़ते २ नितान्त क्षीण हो गई थीं, कम्पनी के शरण में आ गईं और उनकी रक्षा हो गई। अब सिवाय पञ्जाब के भारत का ऐसा कोई प्रदेश नहीं था जो अंग्रेज़ी प्रभाव के बाहर हो। अधिकांश जगहों में तो अंग्रेज़ी राज्य ही था और, जहां नहीं था, वहां अंग्रेज़ों के आश्रित देशी राज्य थे।

इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि इन सबके साथ 'आश्रित पार्थक्य' नीति का पालन किया गया था। ये सब केवल कम्पनी के आश्रित ही नहीं थे, प्रत्युत पृथ्वी के अन्य राष्ट्रों एवं एक दूसरे से पूर्णतया पृथक कर दिये गये थे। ये एक दूसरे से किसी प्रकार का व्यवहार नहीं कर सकते थे। प्रत्येक बात कम्पनी की मध्यस्थता से ही हो सकती थी। यदि कोई विवादास्पद विषय आन पड़े तो प्रत्येक बात कम्पनी

की मध्यस्थता से ही हो सकती थी। यदि कोई विवादास्पद विषय आन पड़े तो प्रत्येक रियासत को कम्पनी का ही निर्णय मानना पड़ता था, पर इसके साथ ही, बड़ी रियासतें अपने भीतरी प्रबन्ध में पूर्णतया स्वतंत्र थीं। संधियों के अनुसार प्रत्येक देशी नरेश अपने राज्य का अबाधित स्वामी (Absolute Ruler) था उसके राज्य में अंग्रेजी क़ानून या शासन नहीं चलसकता था और न भीतरी विषयों में कम्पनी को बोलने का कुछ भी अधिकार था। इसका जो कुछ प्रतिफल हुआ वह आगे के अध्याय में दिखलाया जायगा।

यहां एक बात और लिख देने योग्य है। भारत की इन घटनाओं के साथ २ हमारी पूर्वी सीमा पर और उसके पूर्व बर्मा देश में कई बड़ी घटनाएं हुईं। ये बहुत दिनों तक चली गईं। इनका आरम्भ इस प्रकार हुआ कि आसाम और पूर्वी बंगाल में कम्पनी और बर्मन शासन की मुठभेड़ हुई और समाप्ति तब हुई जब १८८५ में बर्मा के बादशाह थीबा क़ैद करके भारत भेज दिए गये। अभी १९१७ में मद्रास प्रान्त के रत्नागिरि स्थान में उनकी मृत्यु हुई है। इन घटनाओं का विस्तार के साथ कथन इस लिये नहीं किया गया कि भारत से इनका स्वतः सम्बन्ध नहीं है। बर्मा के साथ अन्तर्राष्ट्रीय नियम ही पालन किया गया। भारतीय रियासतों की भाँति उसके साथ भाँति २ की नीतियों की परीक्षा नहीं की गई अतः इस समय बर्मा में कोई बड़ा बर्मन राज्य है ही नहीं।

६—आश्रित पार्थक्य का परिणाम।

हमने पूर्व अध्याय में, आश्रित पार्थक्य नीति के अर्थ को, उसके प्रधान २ उदाहरणों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया

था, अब यहां उस पर कार्य्यवाही करने का जो फल हुआ-उस पर बिचार करना है।

इस नीति के अनुसार देशी राज्य कम्पनी के आश्रित और एक दूसरे से पृथक हो गये। जब किसी राष्ट्र को बाहरी शत्रुओं से अपनी रक्षा करनी होती है तब उसे कुछ न कुछ सुप्रबन्ध करना ही पड़ता है। यदि प्रबन्ध बुरा हो तो प्रजा से रुपया नहीं मिल सकता, और बिना रुपये के, रक्षा के लिये, सेना नहीं रक्खी जा सकती। फिर, जहां कुशासन होगा वहां न तो व्यापार की वृद्धि होसकती है न कृषि की। फल यह होगा कि वह देश दरिद्र हो जायगा और रुपया दे ही न सकेगा। तीसरी बात दुःशासित देश में यह होगी कि प्रजा अशान्त और असन्तुष्ट होगी और दुःखित होकर किसी अन्य के हाथ में देश का प्रबन्ध दे देगी। यदि उसने ऐसा न किया तो भी बाहर से आक्रमण करने वाले को उसकी इस अतुष्टि से लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। हमारे देशी राष्ट्र इन तीनों भयों से मुक्त थे। उनकी रक्षा का भार ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने अपने ऊपर ले लिया था और अन्य सब राष्ट्रों से उनको पथक कर दिया था। साथ ही इसके उसने स्पष्टतया इस बात को कह दिया था कि वह, उनके भीतरी प्रबन्ध में, बाधा न डालेगी। बस, देशी नरेश एक मात्र निर्भय होगये। उनको इस बात का पूर्ण विश्वास होगया कि उनसे कोई कुछ बोल नहीं सकता। वह अपने राज्य में चाहे जैसा शासन करें, जब तक कम्पनी का कोई बिरोध न करे, उनसे किसी प्रकार की पूछताछ न होगी। इस विश्वास का बुरा प्रभाव पड़ा। सब में नहीं, परन्तु बहुत सी रियासतों में शासन की प्रथा अत्यन्त भ्रष्ट होगई। दिन दहाड़े अन्याय और अत्याचार

की धूम मच गई, पर प्रजा की रक्षा का कोई द्वार ही न था। शासन के अभाव का ही नाम शासन पड़ रहा था।

यदि विचार करके देखा जाय तो कम्पनी की इस नीति में बड़ी भारी भूल थी। जब उसने इन राष्ट्रों के स्वातंत्र्य को रोक दिया और इस प्रकार जब अपने राज्य की परिस्थिति तथा अपनी प्रजा की शान्ति और भी दृढ़ करली तब उसको इन देशी राज्यों की प्रजा के विषय में भी सोचना था। जो रक्षक हो उसको सर्वतः रक्षा करनी चाहिये। जब ब्रिटिश गवर्नमेंट इन राज्यों की रक्षक बनी थी तब उसको यह स्मरण रखना चाहिये था कि वह केवल राजों की नहीं प्रत्युत उनकी प्रजा की भी रक्षक है। पहिले तो इन राजों की शक्ति एक दूसरे से लड़ने में कुछ न कुछ व्यय होती थी, अब प्रजा पर व्यय होने लगी। इसमें केवल इन बिचारे राजों का दोष न था; इसके लिये इनकी विचित्र अस्वाभाविक परिस्थिति भी उत्तरदात्री थी। उनकी दशा ठीक ऐसी थी जैसे किसी बलवान मनुष्य के हाथ में शस्त्र देकर कुछ साधारण व्यक्तियों के बीच में उसे छोड़ दिया जाय और इस प्रकार का प्रबन्ध कर दिया जाय कि वह अपने समान बल वालों से लड़ने या मिलने का भी अवसर न पा सके। यह सम्भव है कि यदि वह अत्यन्त उदार व्यक्ति हो तो उन अपने दुर्बल साथियों को कष्ट न दे, पर यदि झुँझुला कर वह उनकी कुछ क्षति करदे तो दोष इसमें केवल उसका ही नहीं प्रत्युत हमारा भी दोष है।

यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि कम्पनी करही क्या सकती थी? इसका उत्तर कठिन नहीं है। किसी २ रियासत के विषय में कम्पनी ने आपही यह उत्तर दे दिया था। कच्छ के साथ जो सन्धि १८१९ में हुई थी उसमें स्पष्ट

रूप से लिख दिया गया था कि रियासत को कम्पनी की सम्मति माननी पड़ेगी और यदि कोई ऐसा काम हो जिससे प्रजा को कष्ट हो तो कम्पनी को उस कष्ट के दूर करने का अधिकार था। बस, इसी बात की आवश्यकता थी। जिन रियासतों की संधियों में यह बात स्पष्टतया नहीं लिखी गई थी उनके भीतरी प्रबन्ध में भी कम्पनी को कभी २ बोलने का अधिकार होना था। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रों को यह बात कभी अच्छी न लगती। वह इसमें अपने अधिकार की हानि समझते और अपने स्वातंत्र्य की बाधा से असन्तुष्ट होते। इतनाही नहीं, किसी राष्ट्र के प्रबन्ध में किसी अन्य के परामर्श देने या दबाव डालने की आवश्यकता का होना उस राष्ट्र के लिये बड़ी लज्जा की बात है। पर किया क्या जाय ? यह समझ में नहीं आता कि अशिक्षित नरेशों के, जिनका वाह्य-स्वातंत्र्य एकमात्र बन्द कर कर दिया गया और जो अन्य तुल्य राष्ट्रों से यकायक पृथक कर दिए गए, कुशासन के लिये और क्या रोक हो सकती थी ?

अस्तु, किसी कारण से कम्पनी ने ऐसा नहीं किया और इन राज्यों के भीतरी शासन की ओर से मुँह मोड़ लिया। फलतः इन में कुशासन दिनों दिन बढ़ता गया। परन्तु कोई वस्तु हो उस का प्रभाव आस पास पड़े बिना रह नहीं सकता। इस दुःशासन का प्रभाव अंग्रेज़ी प्रान्तों पर भी पड़ने लगा और इस बात की सम्भावना हुई कि कम्पनी को क्षति पहुँचेगी। फिर भी जो सरल युक्ति थी उस का अवलम्बन न किया गया और एक टेढ़ा नियम निकाला गया। रियासतों पर थोड़ा सा दबाव डाल कर उन का सुधार करने के स्थान में कम्पनी ने उन से युद्ध

करना ही उचित समझा। जिस राज्य में कम्पनी की समझ में शासन ठीक न होता उस के विरुद्ध एक सेना भेजी जाती और लड़ भिड़ कर राज्य सदा के लिये कम्पनी के राज्य में मिला लिया जाता। सिवाय इस अन्तिम दण्ड के कम्पनी के अफसरों को और कोई युक्ति ही न सूझती थी।

इस विषय में बहुत सा मतभेद है कि कम्पनी ने ऐसा किया क्यों? क्या सचमुच वह इन राज्यों को लेना ही चाहती थी या अनायास किसी और युक्ति के न होने से उसे ऐसा करना ही पड़ा? बहुत लोग उसे पूरा निर्दोष ठहराते हैं, पर ब्लण्ट साहब अपनी पुस्तक 'आइडियाज़ अबौट इण्डिया' में लिखते हैं कि प्रारम्भ से ही यह एक प्रकार से निश्चित सा कर लिया गया था कि भारत में अपनी बृद्धि की जाय और बड़े निर्लज्ज रूप से यह काम किया गया। यह हम नहीं कह सकते कि इनके ये कड़े शब्द कहाँ तक ठीक हैं पर इस सम्बन्ध में एक गवर्नर जनरल, लार्ड आक्लैण्ड, की यह शिक्षा भी स्मरण रखनी चाहिये कि कम्पनी को 'न्यायपूर्वक और प्रतिष्ठायुक्त राज्य-वृद्धि का कभी परित्याग न करना चाहिए।' (Lord Auckland's precept of abandning no just and honourable accession of territory'-see Warner.) अब आगे उदाहरणों के द्वारा हम देखेंगे कि यह राज्य-वृद्धि क्रमशः कैसे २ हुई?

इस समय जो राज्य मिला लिए गये उनके मिला लिए जाने के तीन प्रधान कारण बतलाए जाते हैं। हम इनमें से एक २ को बारी २ लेंगे।

(क)--स्वराज्य-रक्षा।

यह प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह अपनी रक्षा करे। रक्षा कई प्रकार से होती है। एक तो प्रजा को सन्तुष्ट रखना चाहिये और दूसरे अच्छी सेना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त और भी कई बातें होनी चाहिये। पड़ोसियों पर भी अपनी रक्षा बहुत कुछ निर्भर है। यदि अपना पड़ोसी राष्ट्र अपना मित्र हो तो उससे अपने को बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। यदि अपने पड़ोसी राष्ट्र के पास कोई ऐसा राष्ट्र हो जो अपना शत्रु हो तब तो इस बात की और भी आवश्यकता है कि अपना पड़ोसी मित्र हो और साथ ही सबल हो। यह प्रश्न कम्पनी के सामने उपस्थित हुआ था। पश्चिमी सीमा के बाहर रूस का बल बढ़ता जाता था और ऐसा प्रतीत होता था कि वह वायव्य कोण से भारत की ओर बढ़ना चाहता है। बीच में पञ्जाब और अफ़्गानिस्तान के राज्य पड़ते थे। इस लिये कम्पनी का लाभ इसी में था कि ये दोनों सबल और मित्र हों। इसके साथ ही पंजाब के मित्र रहने की और भी आवश्यकता थी क्योंकि वह अफ़् ग़ानिस्तान और कम्पनी के राज्य के बीच में पड़ता था। यदि पंजाब से मैत्री हो, तो अफ़गानों के बीच बिगड़ जाने से भी विशेष क्षति नहीं पहुंचे सकती। इसी प्रकार पंजाब के दक्षिण में सिन्ध देश भी काबुल और कम्पनी के राज्य के बीच में पड़ता था।

सिन्ध में उस समय तीन टुकड़े हो रहे थे। ये एक ही राजबंश की तीन शाखाओं के अधिकार में थे। इनमें आपस में बिगाड़ था। साथ ही इसके, इनको उत्तर की ओर से महाराजा रणवीरसिंह दबा रहे थे। अतः यह बहुत सम्भव था कि

थोड़े दिनों में सिंध पंजाब में मिला लिया जाता। यह कम्पनी को अभीष्ट न था। इस लिये १८०९ से ही उसने सिन्ध के राष्ट्रों से सम्बन्ध करना आरम्भ कर दिया था। उसको यह आशा थी कि इस प्रकार इनका अस्तित्व भी बच जायगा और कम्पनी को इनसे सहायता भी मिला करेगी। पर ऐसा न हुआ। जब १८४२ में कम्पनी से अफ़ग़ानियों से लड़ाई छिड़ गई तब सन्धि के अमीरों ने सहायता न दी। बस, यही लड़ाई का कारण था। इस इड़ाई का परिणाम यह हुआ कि सिन्ध अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। केवल एक सिन्धी राज्य अब भी बच रहा है। इसका नाम ख़ैरपूर है और इसके स्वामी 'मीर' कहलाते हैं। यह रियासत १८४३ में आश्रित बनी थी।

बहुत से लोगों ने सिन्ध के मिला लेने के लिये कम्पनी को दोषी ठहराया है। स्वयं सर चार्ल्स नेपियर ने, जिन्होंने इस देश को जीता था इस लड़ाई को अन्याय-युक्त बतलाया था। प्रतीत भी ऐसा ही होता है। सिंध और काबुल से कोई लड़ाई तो थी ही नहीं, फिर सिन्ध-वाले काबुल के शत्रु, अर्थात् कम्पनी को क्यों सहायता देते? यह तो बात ही दूसरी है कि कम्पनी सबल थी और उसने सिन्ध को दबा लिया। काबुल तो स्थायी रूप से हाथ लगा ही नहीं, उसका क्रोध सिन्ध पर निकला। यह ठीक है कि १८४३ में कई अमीरों पर भारी दबाव डालकर कम्पनी की इच्छा के अनुसार एक सन्धि-पत्र लिखवा लिया गया था पर उसके विरुद्ध चलने में अमीरों ने (सिन्ध के सर्दार इसी उपाधि से पुकारे जाते थे) कोई अपराध नहीं किया। कुछ अंग्रेज़ इन सब बातों के उत्तर में यह कहते हैं कि यदि सिन्ध को कम्पनी न ले लेती तो उसे या तो पंजाब वाले मिला लेते या काबुल वाले मिला

होते। फिर कम्पनी के शासन से प्रजा का कल्याण ही हुआ, इत्यादि।

अस्तु, इससे कहीं बड़ा और गुरुतर प्रश्न पञ्जाब का था। पंजाब में और राष्ट्रों से कई बातें भिन्न थीं। माना कि मरहठों में धार्मिक आवेश था पर राजनैतिक विचारों ने उसे पूरा प्रबल न रहने दिया था। इसका प्रमाण यह था कि मरहठे बराबर अपने यहां मुसलमानों को नौकर रखते थे। इतना ही नहीं, उन्होंने कई मुसलमानी धार्मिक कृत्य भी अङ्गीकार कर लिये थे। शिंदे और होलकर के यहां राज की ओर से ताज़िए निकाले जाते हैं और मुहर्रम बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। सिक्खों में यह बात न थी। मुसलमानों से उनसे इतना विरोध था कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। कई स्थानों में मुसलमानों को मस्ज़िद में नमाज़ के लिये अज़ान देना तक मना था। फिर सिक्खों में वर्ण-विचार न था, इससे भी इनमें बड़ा पक्का था। इन सब बातों का लाभ महाराजा रणजीत सिंह ने, जो पंजाब के सिंह कहलाते थे, उठाया। यद्यपि सतलज के दक्षिण के राज्य अंग्रेज़ी शरण में आ गये थे, और सारा पञ्जाब रणजीतसिंह का ही था तथापि उन्होंने काश्मीर भी काबुल वालों से जीत लिया था। जिस पश्चिमोत्तर सीमा के अफ़ग़ानों और पठानों ने आज अंग्रेज़ी गवर्नमेंट को भी तङ्ग कर रक्खा है। उसी सीमा पर लोग रणजीतसिंह का नाम सुन कर कांपते थे। उनके प्रसिद्ध सेनापति हरिसिंह नलवा का नाम अब तक वहां डर उत्पन्न करता है। सेना का प्रबन्ध भी बड़ा उत्तम था। उसके ऊपर सिक्ख सर्दारों के अतिरिक्त कई फ्रेञ्च अफ़सर थे और उसकी संख्या ७०००० से ऊपर थी। उसके पास तोपें भी ३५० से ऊपर थीं।

परन्तु भावी सब से प्रबल है। महाराज रणजीतसिंह का १८३६ (सम्वत् १८६५) में देहान्त होते ही यह सब प्रबन्ध मिट्टी में मिल गया। उनके पुत्र खड्गसिंह में पिता की आधी योग्यता भी न थी। उनके पीछे नौनिहालसिंह और शेरसिंह के हाथ में दशा और भी बिगड़ गई। बात यह थी कि ये लोग दुर्बल और छोटी बुद्धि के व्यक्ति थे और इनके मंत्री सभी स्वार्थ में रत हो रहे थे। उस पर सेना उत्साह से भरी हुई और सबल थी। बस धीरे २ सारा अधिकार सेना के हाथ में आ गया। जो कोई मंत्री या राजा बन कर रहना चाहे उसके लिये सेना को प्रसन्न रखना आवश्यक था। सेना के अफ़सरों की कमेटियां बनी हुई थीं। बस इन्हीं की इच्छा के अनुसार सब को चलना पड़ता था।

यह अवस्था बहुत दिनों तक रह नहीं सकती थी। मंत्रियों को यह बात सूझी कि किसी प्रकार सेना का बल तोड़ना चाहिए। इसका उपाय यही था कि उसको अंग्रेज़ों से लड़वा दिया जाय। शीघ्र ही उनको इसका अवसर मिल गया। उन दिनों सिक्खों से और कम्पनी से सीमा के विषय में कुछ झगड़ा चल रहा था और कुछ समझ कर उस समय के गवर्नर-जनरल हार्डिङ्ग ने सिक्ख सरहद के सामने सेना भी एकत्र कर ली थी। बस, सिपाहियों से बतलाया गया कि अंग्रेज़ लोग पञ्जाब पर आक्रमण करने वाले हैं और उन्हें इस बात का उलाहना दिया गया कि तुम अंग्रेज़ों से लड़ने से डरते हो।

मंत्रियों की इस कूट-नीति का फल यह हुआ कि ११ दिसम्बर १८४५ को सिक्ख-सेना सतलज के इस पार

आ गई। उसने जिस भूमि पर डेरा डाला वह कम्पनी की नहीं, प्रत्युत सिक्खों की ही थी। परन्तु अंग्रेज़ों ने सेना के इस पार आने को युद्ध का आरम्भ मान लिया। सब मिलकर चार बड़ी लड़ाइयां हुईं-मुदकी, फ़ीरोज़शाह, अलीवाल और सोब्रावँ। इनमें सिक्खों ने अप्रतिम वीरता का परिचय दिया पर अन्त में उनकी हार हुई और अंग्रेज़ी सेना फ़र्वरी १८४६ में लाहोर पहुँच गई।

सिक्ख-सेना क्यों हार गई? यों तो जो कुछ होता है वह सब भाग्य से ही होता है पर दृष्ट कारण भी प्रायः होते ही हैं यहां प्रधान कारण यह था कि सिक्ख सर्दार नीच, स्वदेश-शत्रु और स्वार्थी थे। इस युद्ध का बहुत कुछ ठीक २ वृत्तान्त कनिङ्गहम की 'हिस्ट्री आव दि सिक्ख' में मिलता है। सच लिखने के कारण, बिचारे कनिङ्गहम सर्कारी नौकरी से निकाल दिये गये थे। इस सत्यव्रत अंग्रेज़ का कथन है कि लड़ाई में एक भी सिक्ख ने हार न मानी'। बात यह हुई कि उनके सर्दार तेजसिंह ने अपने सिपाहियों को इस प्रकार खड़ा किया कि वे बिचारे खड़े २ अंग्रेज़ी तोपों से उड़ा दिये गये। उसने ऐसा क्यों किया? कनिंगहम कहते हैं-'Whether by accident or design' 'अकस्मात् या जान-बूझकर'। पर यहां संशय का स्थल ही नहीं है। राजा शिवप्रसाद C. S. I. की एक उर्दू जीवनी उन्हीं की लिखी हुई छपी थी। वह लड़ाई के समय अंग्रेज़ी सेना के साथ थे। उन्होंने स्पष्टतया लिख दिया है कि तेजसिंह अंग्रेज़ों से मिल गया था। इतना ही नहीं, उस पुस्तक से उसकी एक और नीचता प्रकट होती है। अंग्रेज़ों की कुछ बड़ी २ तोपें आ रही थीं। तेजसिंह

ने अपने सिपाहियों को लड़ने से तब तक रोक रक्खा जब तक कि वे तोपें न आ जायं। धन्य है ऐसे महापुरुषों का !!

अस्तु, लाहौर जाकर एक सन्धि हुई। इसके अनुसार सिक्ख-सेना की संख्या कम कर दी गई, सिक्खों का राज्य भी छोटा हो गया और यह तय रहा कि जब तक महाराजा दलीप सिंह बड़े न हो जायं तब तक प्रबन्ध की देख-भाल कम्पनी के अफ़सर किया करें। पर इसकी सब से महत्वपूर्ण धारा ध्यान देने योग्य है, और उसका इतिहास यह है:-सिक्ख दर्बार के सब से बड़े सर्दार गुलाब सिंह थे। यह सिक्ख नहीं प्रत्युत डोंगरा राजपूत थे। रणजीतसिंह के समय में एक साधारण सिपाही की अवस्था से यह इस पद तक पहुंचे थे और इस समय सिक्खों की ओर से काश्मीर पर राज करते थे। जिस सिक्ख दर्बार के द्वारा इनको यह प्रतिष्ठा मिली थी उसके साथ इन्होंने कैसा आचरण किया है, वह विचारने योग्य है। इनको यह भली भाँति प्रतीत था कि कोष में रुपया नहीं है, फिर भी, बहुत लोगों का कथन है कि इन्हीं के परामर्श से, कम्पनी ने लड़ाई के हर्जाने में दो करोड़ रुपया माँगा। इनका परामर्श हो या न हो, रुपया माँगा अवश्य गया। रुपया तो था ही नहीं, इनके कहने पर दर्बार ने रुपये के स्थान में काश्मीर अंग्रेज़ों को दे दिया और फिर कम्पनी को अपने पास से दो करोड़ रुपया देकर गुलाबसिंह ने काश्मीर ले लिया। कमी इतनी ही थी कि उनको पूर्णतया स्वतंत्र होने की आशा थी पर कम्पनी ने उनको अपना आश्रित ही बनाया। भला सोचिए तो सही, जब गुलाबसिंह के पास रुपया था ही तो उन्होंने पहिले ही क्यों न दे दिया!

इस से काश्मीर भी सिक्खों के पास रह जाता और गुलाब सिंह का भी नाम सच्चे देशभक्तों और कृतज्ञों में लिखा जाता। इस अवसर पर महाराणा प्रताप के मंत्री भामाशा का नाम स्मरण होता है, जिसने अपनी सारी सम्मति देश के लिये महाराणा जी को अर्पण कर दी थी। अस्तु, गुलाबसिंह ने ऐसा नहीं किया। वही काश्मीर के राजवंश के प्रथम पुरुष हुए। आधुनिक महाराजा प्रपौत्र हैं।

ऊपर से तो शान्ति हो गई पर यह शान्ति स्थायी नहीं थी। सिपाहियों का उत्साह अभी घटा नहीं था। उन्होंने देख लिया था कि यदि उनके सर्दार अनुचित कार्य्य न करते तो कदाचित् उनकी हार न होती। इस लिये वे अवसर ढूंढ़ रहे थे। दो वर्ष पीछे अवसर मिल ही गया। इस झगड़े की जड़ यह थी कि मुल्तान के सूबेदार मूलराज टेढ़ी प्रकृति के मनुष्य थे और उनको हटाने के लिये जो लोग भेजे गए थे उनमें से दो अंग्रेज़ अफ़सर मारे गए। यह एक बहाना मात्र था। दबी हुई आग फिर भड़क उठी। इस बार साल भर तक युद्ध रहा। इस बीच में चिलियाँवाला और गुजरात की दो बड़ी लड़ाइयां हुईं। चिलियांवाला की लड़ाई के लिये ठीक २ यह नहीं कहा जा सकता कि जीत किसकी हुई परन्तु इतना ज़रूर है कि गुजरात की लड़ाई के पीछे सिक्खों का बल टूट गया।

२९ मार्च १८४९ को पञ्जाब, कम्पनी के अधिकार में आ गया। महाराजा दलीप सिंह कुछ काल पीछे विलायत भेज दिए गए और वहीं उनका ब्याह भी हुआ। पीछे से उनकी तीव्र इच्छा भारत आने की हुई, पर गवर्न्मेंएट ने इसे पूरी न होने दिया। उनकी माता चुनार के क़िले में रक्खी

गई थीं पर वे वहां से भागकर नैपाल चली गईं। गवर्न्मेंएट ने उनको वापस मांगा, पर नैपाल दर्बार ने यह बात स्वीकार न की और मृत्यु पर्य्यन्त उनकी रक्षा की।

पञ्जाब के जीते जाने पर भारत के भीतर कम्पनी का एक भी बिरोधी न रहा। अब वह सारे भारत के ऊपर आधिपत्य रखती थी और काबुल या रूस की सीमा के भी निकट पहुंच गई; इस लिये अपनी रक्षा के लिये वह उस ओर यथोचित प्रबन्ध कर सकती थी।

(ख) जनता का कल्याण।

भारत के कई देशी राज्यों में, जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, घोर कुशासन फैला हुआ था। इस दुःशासन का कारण भी हम बतला चुके हैं। अन्त में, इस ने कई राज्यों के अस्तित्व का ही संहार कर दिया।

पहिला उदाहरण कुर्ग का है। यह राज्य टिपू सुल्तान की मृत्यु होने पर आश्रित बनाया गया था। राजा तो छोटा था पर प्रजा यहां की बड़ी बीर और उत्साही थी। दुर्भाग्यवश यहां के कई राजे बड़े ही क्रूर हुए। अन्तिम राजा वीरराजेन्द्र वडेर, जो १८२० में गद्दी पर बैठे थे, बड़े ही विकट थे। इनके शासन-काल में प्रजा को अत्यन्त कष्ट था। अन्त में, कुछ लोगों ने ब्रिटिश गवर्न्मेंएट की सहायता चाही। कम्पनी ने कुछ अंग्रेज़ों को इस लिये भेजा कि वह राजा साहब को समझायें। उन्होंने एक न मानी। फिर एक देशी राजदूत भेजे गए। राजा ने उनको काराबास में डाल दिया। फल यह हुआ कि कुछ थोड़ी सी लड़ाई के पीछे कुर्ग ब्रिटिश

शासन में मिला लिया गया और राजा साहब पेंशन देकर काशी भेज दिए गये। यह घटना १८३४ की है। जिस घोषणा द्वारा कुर्ग मिलाया गया इस में प्रजा को यह विश्वास दिलाया गया कि अब वह कभी भारतीय शासन में न रक्खे जायंगे—(The inhabitants are hereby assured that they shall not again be subjected to Native Rule. कुर्ग का राज्य प्रजा की इच्छा से मिलाया गया था इस लिये वहां के निवासियों को, अन्य प्रान्तों के निवासियों की अपेक्षा, कुछ अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

बाद में अवध की बारी आई। इस राज्य की विचित्र दशा थी। बक्सर की सन्धि के समय से, यह कम्पनी का मित्र था। बीच में, जैसा कि हम देख चुके हैं, नव्वाब वज़ीर ने बादशाह की उपाधि धारण की थी। आरम्भ में तो यह राज्य कम्पनी का ऋणी था पर पीछे से बहुत कुछ समृद्ध हो गया था; यहाँ तक कि, इस ने कम्पनी को बहुत सा ऋण दिया था। यह सब था, पर उपर्युक्त कारणों से शासन की दशा दिनों दिन बिगड़ती ही गई। कुछ लोगों का यह कहना था कि कम्पनी ने अवध से ऋण लिया था, इसी लिये वह बादशाह से कुछ न बोलती थी। जो कुछ हो, १८५५ तक यह दशा असह्य हो गई और कम्पनी की ओर से एक संधि-पत्र लखनऊ भेजा गया। इस का तात्पर्य यह था कि बादशाह और उन के बंशजों की प्रतिष्ठा वैसी ही रहेगी और उन को अपने व्यय के लिये कुछ रुपया मिला करेगा, पर देश का सारा प्रबन्ध कम्पनी करेगी। तत्कालीन बादशाह, वाजिद अली शाह, ने उस पर हस्ताक्षर न किया। फल यह हुआ कि अवध का राज्य १८५६ में कम्पनी के शासन में आ गया

और वाजिद अली शाह की पेंशन हो गई। वह कलकत्ते के पास 'मटिया बुर्ज' में रहते थे।

अवध के विषय में भी कम्पनी को, विशेषतः तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड डैलहाउज़ी को, बहुत कुछ दोष दिया जाता है। इस में सन्देह नहीं कि यह काम न्याय-युक्त नहीं था, पर यदि वाजिद अली में दुर्भाग्यवश विषय-परता न आ जाती तो किसी को उन के राज्य लेने का अवसर ही न मिलता। लखनऊ छोड़ते समय वाजिद अली ने कहा था, "अंग्रेज़ बहादुर ने जुलुम किया, मोरी छीन लई लखनऊ नगरी।"

(ग) राज्यच्युति।

लार्ड डैलहाउज़ी के समय में कई राज्य इस नियम के अनुसार अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिए गए। इस को अंग्रेज़ी में Doctrine of Lapse कहते हैं। इस का सारांश यह है कि जिन राज्यों की उत्पत्ति कम्पनी के सनद से हुई है, उन में यदि औरस उत्तराधिकारी न हो तो वह राज्यच्युत हो जाँयगे, अर्थात् कम्पनी के शासन में मिला लिये जाँयगे। तात्पर्य्य यह है कि जिस सनद वाले राजा के लड़का न हो उस का राज्य कम्पनी में मिल जाना चाहिए। वह दत्तकपुत्र नहीं ले सकता। "In States owing their origin to our grant or gift, if heirs fail, according to the terms of our grant we annex"—Lord Dalhousie.

इस नियम के अनुसार नागपूर, सतारा, झाँसी, जैतपुरा, कचार के राज्य मिला लिए गये। तञ्जावर के राजा के मरने पर उन की उपाधि किसी को न मिली और पेशवा के

देहान्त होने पर उन के दत्तकपुत्र नाना साहब को उन के पिता की पेंशन का कोई भाग न मिला।

इन राज्यों में से झाँसी का कथन अभी आगे होगा। नागपूर के विषय में इतना ही कहना है कि वह सनदी राज्य तो नहीं था परन्तु नागपूर का राज्य जब कम्पनी के हाथ में आ गया था तब भी उस ने उसे भोंसले वंश को लौटा दिया, इसी लिये उस की गिनती भी इसी कोटि में की गई।

सन् १८५६ में ये सब काम समाप्त हो गये। अब शीघ्र ही एक नवीन नीति का प्रादुर्भाव हुआ, जिस ने देशी राज्यों की परिस्थिति में बड़ा अन्तर डाल दिया है। उसका कथन करने के पहिले हम को इस अध्याय में कथित घटनाओं को स्मरण कर लेना चाहिए। अर्थात्, कम्पनी ने आश्रित पार्थक्य की नीति के द्वारा यह निश्चित कर लिया कि उसे राष्ट्रों को भीतरी प्रबन्ध में बाधा देने या पूछताछ करने का अधिकार नहीं है। जब इस का फल यह हुआ कि कई राज्यों में अशान्ति बहुत फैल गई तब कम्पनी ने उन्हें अपने शासन में ले लिया। कई राज्यों को कम्पनी ने इस लिये मिला लिया कि बिना ऐसा किये उस के राज्य की रक्षा में विघ्न पड़ने की सम्भावना थी। साथ ही कई राज्य इस लिये भी मिला लिये गये कि मरते समय उन के राजा कोई लड़का नहीं छोड़ गए। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि देश का एक बहुत बड़ा धन-धान्यपूर्ण और समृद्ध-शाली भाग कम्पनी के शासन में मिला लिया गया।

———:०:———

७—सिपाहियों का विद्रोह।

पूर्व के अध्याय में वर्णित घटनाओं में से अन्तिम घटना अवध की थी। उसके कुछ ही काल पीछे, १८५७ में, सिपाहियों का प्रसिद्ध विद्रोह हुआ। इसका विशेष सम्बन्ध भारत के साधारण इतिहास से है, परन्तु देशी राष्ट्रों से भी इसका बड़ा सम्बन्ध है। अतः हमारे लिये इसका संक्षेपतः वर्णन करना अत्यावश्यक है।

यह विद्रोह साल भर तक रहा। उस समय लार्ड कैनिङ्ग (Lord Canning) भारत के गवर्नर जनरल थे। पहिले २ विद्रोह कलकत्ते के पास बैरेकपूर में आरम्भ हुआ। वहां से अति शीघ्र उत्तरी भारत में फैल गया। युक्त प्रान्त में इसका पहिला केन्द्र मेरठ था; उसके पीछे कानपुर और अन्त में लखनऊ ने यह स्थान लिया। पञ्जाब में दिल्ली में इसका सारा बल एकत्र था। उत्तर भारत के साथ २ मध्य भारत के बुन्देलखण्ड प्रान्त में भी इसका बड़ा ज़ोर था। इन मुख्य स्थलों को छोड़ कर और भी कई स्थानों में स्फुट रूप से कुछ न कुछ विद्रोह हुआ, पर उनके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस विद्रोह के कारण यों तो बहुत से थे, पर जहां तक प्रतीत होता है उन में से ३ प्रधान हैं:—

(१) अभी तक बक्सर की लड़ाई के पीछे जितनी मुख्य लड़ाइयां हुई थीं उनमें कम्पनी के देशी सिपाहियों में पूर्बियों की ही प्रधानता थी। ये लोग संयुक्त प्रान्त और विशेषतः अवध के रहने वाले थे। युद्ध करना इन का पैतृक व्यापार था। ऐसा कदाचित् ही

कोई गाँव था जिस में से कुछ ब्राह्मण या क्षत्रिय सेना में नहीं थे। उच्च जातियों के होने के कारण ये प्रायः सभ्य, सज्जन और धार्म्मिक होते थे। इन की बीरता का प्रमाण इसी से मिल सकता है कि अभी तक ये जिन २ लड़ाइयों में गए थे प्रायः जीत कर ही आये थे। इन सब कारणों से ये अपने को एक प्रकार से अजेय मानने लग गए थे; इतना ही नहीं, इन को यह विश्वास सा हो गया था कि कम्पनी के हम लोग विशेषतया उपकारक हैं और उस को हमारी ऋणी रहना चाहिए तथा कृतज्ञता का आचार करना चाहिए। उन्हीं दिनों एक प्रकार का नया कारतूस आया था, जिसे दाँतों से काटना पड़ता था। कुछ लोगों ने सिपाहियों को यह समझा दिया कि इन कारतूसों में गऊ और सुअर की चर्बी पड़ी है। चर्बी तो प्रत्यक्ष देख ही पड़ती थी, चाहे किसी जीव की हो; बस, सिपाहियों को यह विश्वास हो गया कि हमारा धर्म्म नष्ट करने के लिये ही कम्पनी ने ये कारतूस मँगवाये हैं। इस बात से उन का क्रोध इतना बढ़ गया कि उन कारतूसों के हटाये जाने पर भी शान्त न हुआ।

(२) इस के कुछ ही पहिले डैलहौज़ी भारत से गए थे। उन की नीति ने, जिस के अनुसार उन्होंने कई रियासतों को मिला लिया था, सभी राज्यों में खलबली मचा दी थी। सब को यही डर था कि अब हमारी बारी आने वाली है। कम्पनी के पुराने मित्र–अवध–के साथ जो सलूक किया गया उस ने सब को विशेषतया घबरा दिया। सिपाहियों पर, विशेषतया अवध वालों पर, इस का बड़ा प्रभाव पड़ा। अवध के मिला लिये जाने को पूर्बिया सिपाहियों ने एक प्रकार से अपना अपमान समझा।

(३) इन राज्यों के च्युत होने से बहुत से लोगों, विशेषतः इन के सैनिकों, की वृत्ति ही जाती रही। इन लोगों के द्वारा भी बहुत कुछ असन्तोष चारों ओर फैल गया।

इन और अन्य कई कारणों ने इस बिद्रोह को एक व्यापक रूप दे दिया। इनके अतिरिक्त भिन्न २ स्थानों में और भी छोटी २ बातों ने मिल कर अशान्ति को तीव्रतर कर दिया। कहीं २ अंग्रेज़ी अफ़सरों ने अपनी अदूरदर्शिता से अपनी आप हानि की। इसका सब से प्रसिद्ध उदाहरण झाँसी का है। झाँसी का राज्य तो लेही लिया गया था पर महारानी 'लक्ष्मी बाई' आरम्भ में अंग्रेजों की सहायता करना चाहती थीं। उनका विश्वास नहीं किया गया। इस विपरीत भाव ने उनको विरोधी बना दिया और जैसा कि स्वयं अंग्रेज़ी अफ़सरों ने कहा है-कम्पनी का विद्रोहियों में उनसे अधिक बीर शत्रु का सामना नहीं करना पड़ा। अस्तु, जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, विद्रोह के विस्तृत इतिहास से हम से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस काल की लड़ाइयों, अत्याचारों और विद्वेषों पर पर्दा डालना ही अच्छा है। दोनों ओर से कई व्यक्तियों ने असाधारण वीरता और युद्ध कौशल का परिचय दिया। विद्रोहियों में महारानी झांसी, जिनका कथन ऊपर होचुका है, आरे के बा० कुअँर सिंह, प्रसिद्ध सर्दार तांतिया टोपी आदि के नाम और अँग्रेज़ी अफ़सरों में निकोल्सन, लारेंस, हैवेलाक (Nicholson, Lawvence, Havelock) आदि के नाम अविस्मरणीय हैं। अन्त में कम्पनी की जीत हुई और धीरे २ विद्रोह सभी जगहों में दमन हुआ।

इसके कई कारण हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि कम्पनी के सेनापतियों ने अनुपम योग्यता और अंग्रेज़ सिपाहियों ने अत्यन्त वीरता दिखलाई परन्तु केवल इतने ही से विजय की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती थी। कम्पनी के जीत के ये कारण भी बड़े ही प्रभावशाली थे:—

(१) विद्रोह केवल सिपाहियों ने ही किया था। साधारण प्रजा प्रायः उदासीन थी। इतना ही नहीं, सहस्रों ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें लोगों ने अपनी जान पर खेलकर अंग्रेज़ों के प्राण बचाये थे। पीछे से इनमें से बहुतों को भांति भांति के पारितोषिक भी मिले पर उस समय इन्हों ने केवल दया से द्रवीभूत होकर ही, अंग्रेज़ों की सहायता की थी। लोभ तो तब करते जब अंग्रेज़ों के जीतने के कोई लक्षण देख पड़ते।

(२) सिपाहियों में न तो एक नेता था और न एक लक्ष्य। एक तो हिन्दू मुसलमानों में आपस में विरोध था, दूसरे उन्हों ने यह तक निश्चित नहीं कर पाया था कि यदि अंग्रेज़ निकाल दिए गए तो फिर देश का प्रबन्ध कौन और कैसे करेगा। मुसलमान लोग दिल्ली के बादशाह नामधारी अन्धे बहादुर शाह को फिर से बादशाह बनाना चाहते थे और कोई और बात न सूझ पड़ने से बहुत से हिन्दू भी उनका साथ दे रहे थे, पर यह मेल स्थायी नहीं था। यदि ये लोग जीत जाते तो तत्काल ही एक दूसरे से लड़ मरते। उधर पेशवा के दत्तक पुत्र नाना साहब भी एक दल के नेता थे और फिर हिन्दू, विशेषतः मरहठा, साम्राज्य के स्वप्न देख रहे थे।

(३) विद्रोह केवल संयुक्त प्रान्त और उस से संलग्न मध्य भारत के कुछ प्रान्तों तक ही परिबद्ध था-और प्रान्त के लोग तो प्रायः तटस्थ से रहे। शिक्खों ने, जो पूर्बियों से उस समय रुष्ट थे, कम्पनी की बड़ी सहायता की। न केवल सिक्ख प्रजा शान्त रही प्रत्युत बहु संख्यक सिक्ख कम्पनी की सेनाओं में भर्ती हो गए और अन्त में इन्हीं की सहायता से विद्रोह मुख्यतया शान्त किया गया।

(४) देशी राज्यों ने कम्पनी के साथ अविचल मैत्री दिखलाई। यदि वे बिगड़ जाते, तो काम सँभलना प्रायः असम्भव ही था। इस मैत्री के कारण बहुतेरों को कष्ट भी सहना पड़ा पर वे सुदृढ़ रहे। अकेले महाराणा उदयपूर के प्रभाव ने सारे राजपुताने को शान्त रक्खा। निज़ाम हैदराबाद ने सारे दक्षिण को सँभाल रक्खा। इसी प्रकार अन्य देशी नरेशों ने भी कम्पनी को अमूल्य सहायता दी। सबसे बड़ी, विशेषतः इस लिये कि वह अप्रतीक्षित थी, सहायता नैपाल दर्बार ने दी। नैपाल कम्पनी का आश्रित नहीं था, फिर भी तत्कालीन दीवान, राणा जङ्गबहादुर, स्वयं एक सेना लेकर विद्रोह दमन के लिये आए। उनके आने तक विद्रोह आपही बहुत कुछ शान्त होगया था और उनकी सहायता अनावश्यक सी थी, उनके सिपाहियों का व्यवहार भी प्रजा के साथ, जहां तक सुना गया है, ऐसा न था जैसा कि एक सभ्य, हिन्दू, और क्षत्रिय जाति के सिपाहियों का होना चाहिये था, पर इस सहायता का प्रभाव बहुत ही अच्छा पड़ा।

अस्तु, इन सब कारणों से विद्रोहियों की हार हुई और अंग्रेज़ी राज्य पुनः स्थापित हुआ। गड़े मुर्दों को

उखाड़ना निरर्थक ही नहीं हानिकारक है; कम से कम, इस पुस्तक में हमारे लिये इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि इस सब रक्तपात के लिये दोषी कौन था। जहां तक समझ पड़ता है, दोनों ही पक्षों का कुछ न कुछ दोष था और इसका शोधन, जैसा कि पृथ्वी के इतिहास में बहुधा होता आया है, बिना धरातल को रुधिर प्लावित किये न हो सका। हम इतना ही कह सकते हैं कि ईश्वर जो कुछ करता है अन्त में उसका परिणाम अच्छा ही निकलता है। इस भयंकर व्यापार से भी भारत का कई बातों में कल्याण ही हुआ।

विद्रोह से परिणाम रूपी परिवर्तन तो कई हुये, पर उनमें से मुख्य २ ये हैं:—

(१) अभी तक, जैसा कि हम देख चुके हैं, भारत का शासन व्यापारियों की एक कम्पनी करती थी। यद्यपि व्यापार और शासन में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, पर यह कम्पनी, पृथ्वी के इतिहास में, यह अश्रुतपूर्व कार्य कर रही थी। पहिले तो वह पूर्णतया स्वतंत्र सी थी पर धीरे२ इङ्गलैंड की गवर्नमेंट ने उसके प्रबन्ध में हस्तक्षेप करना आरम्भ करदिया था। विद्रोह के समय तक कम्पनी का सारा राजनैतिक स्वातंत्र्य प्रायः जाता रहा था और अब वह इंगलिश मंत्रिदल के आधीन थी, परन्तु नाम अभी तक कम्पनी का ही था। अब यह नाम भी मिटा दिया गया। कम्पनी से भारत का शासन ले लिया गया और इङ्गलैंड की स्वर्गीया महाराणी विक्टोरिया ने भारत साम्राज्ञी की पदवी धारण की।

गवर्नर जनरल भी अब वाइसराय (Viceroy) 'राज-प्रतिनिधि' कहलाने लगे। इसका प्रभाव शासन के लिये अत्युत्तम हुआ। अब ब्रिटिश जनता को सर्कारी नौकरों के काम की देख-भाल करने का पूर्ण अधिकार मिल गया और भारत-वासी भी ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक कहलाने लगे। कम से कम कहने के लिये, उनमें और अंग्रेज़ों में कोई राजनैतिक अन्तर न रहा। राजों के लिये भी यह बात प्रतिष्ठा की थी। अब वे व्यापारियों के आधीन न होकर एक सम्राट के आधीन हुये, जो कि प्राचीन प्रथा के अनुकूल बात थी। इन सब बातों की घोषणा करने के लिये १ नम्बर १८५८ को इलाहाबाद में एक बड़ा दरबार किया गया और अंग्रेज़ी घोषणा का अनुवाद भारत के सभी नगरों में पढ़ा गया। लार्ड कैनिंग ही प्रथम वाइसराय हुये।

(२) कम्पनी की पूर्बिया सेना, जिसे बेङ्गाल आर्मी (Bengal Army) कहते थे, प्रायः तोड़ दी गई। कुछ गिनी गिनाई पल्टनों को छोड़ कर अब पूर्बिया पल्टनें नहीं हैं। पूर्बिया लोग अब सेना में लिये ही नहीं जाते। पर इसका फल अच्छा नहीं हुआ। पूर्बियों से अच्छे कदाचित् ही कोई और सिपाही होते होंगे। आज कल गवर्नमेंट सिक्खों, गुर्खों, जाटों और डोगरों की बड़ी प्रतिष्ठा करती है। यह सर्वथा उचित है। वस्तुतः ये जातियां बड़ी ही वीर, उत्साही और पराक्रमी हैं। पर यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि मरहठों, गुरखों, सिक्खों, जाटों, डोगरों, पठानों से जो २ लड़ाइयां हुईं उन सब में पूर्बिया सिपाही ही लड़े थे। अब गवर्नमेंट भी अपनी भूल समझ गई है। इस भीषण यूरोपीय युद्ध में, जब कि सिपाहियों की अत्यन्त आवश्यकता है,

इस पूर्वीय प्रांत से बहुत ही कम सिपाही मिले। कारण यह कि जिन लोगों के बाप दादे न जाने कितनी पीढ़ियों से सिपाही की वृत्ति से जीते थे आज भर्ती न किये जाने से वे लोग कृषि करने लगे हैं और अब लड़ाई की ओर उनकी जल्दी प्रवृत्ति नहीं होती। जो पहिले आप ही आप से दौड़े हुये सेना की ओर जाते थे वे अब मनाये नहीं मानते। अभी थोड़े ही दिन हुये मेरठ में व्याख्यान देते हुये संयुक्तप्रांत के भूतपूर्व छोटे लाट सर जेम्स मेस्टन (Sir James Meston) ने इस बात को स्वीकार किया था कि संयुक्तप्रांत से कम सिपाही मिलने का कारण गवर्नमेंट की यही नीति है।

(३) गवर्नमेंट और देशी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। इस विद्रोह के समय में सिपाहियों के विरुद्ध रियासतों से जो कुछ सहायता मिली थी उसने प्रकृत्या बहुत कुछ प्रभाव डाला। ब्रिटिश सर्कार ने भी अब अच्छी शिक्षा प्राप्त की। इन सब बातों का सविस्तर कथन अगले अध्याय में होगा।

८—देशी राष्ट्र और ब्रिटिश शासन।

(ग)—आश्रित सहकारिता।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, १८५८ से भारत के शासन में कई बड़े परिवर्तन हुये। उनमें से दो का हमारे विषय से सम्बन्ध है। एक तो यह था कि अब कम्पनी का अधिकार उठ गया और उसके स्थान में शासन का सूत्र

ब्रिटिश गवर्नमेंट तथा तत्स्वरूपी इङ्गलैंड के बादशाह के, जो अब से भारत के सम्राट कहलाने लगे, हाथ में चला गया। गवर्नर जनरल भी अब सम्राट के प्रतिनिधि माने गये। दूसरा परिवर्तन उस 'दृष्टि कोण' में हुआ जिस से अभी तक देशी राष्ट्र देखे जाते थे।

इस परिवर्तन का मूल कारण १८५७ का विद्रोह था। उस से गवर्मैण्ट को यह बात स्पष्ट हो गई थी कि जो राष्ट्र मित्र बना कर रक्खे जायँगे उनसे गवर्मेंट को लाभ ही लाभ था। वह जो सहायता दे सकते हैं वह अमूल्य हैं, क्योंकि जाति और कर्म्म में देशी नरेश प्रजा से अभिन्न हैं, इस लिये प्रजा पर उनका अपरिमित प्रभाव पड़ता है। इसी कारण यह भी निश्चित ही था कि यदि इनमें असन्तोष फैल जाय तो ये हानि भी बड़ी पहुँचा सकते थे।

यही सब सोच विचार कर अब नई नीति निर्धारित हुई। इसका नाम 'आश्रित सहकारिता नीति' (The policy of subordinate co-operation or subordinate union) है। इसका तात्पर्य्य यह है कि "ब्रिटिश गवर्नमेंट और देशी नरेश–दोनों का लक्ष्य एक ही है–अर्थात् भारतीय प्रजा का सुशासन। इस लक्ष्य की सिद्धि तब ही हो सकती है जब दोनों एक दूसरे के सहकारी बन कर इस कार्य्य में योग दें। अभी तक जो यह नियम चला आता था कि देशी नरेशों के शासन में ब्रिटिश गवर्नमेंट बोल नहीं सकती थी वह भ्रमात्मक था। सहकारित्व का अर्थ ही यह है कि एक दूसरे की सहायता करे और मिल कर काम हो, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि देशी राष्ट्रों को ब्रिटिश शासन के विषय में बोलने का अधिकार है। ये राष्ट्र आश्रित हैं, बराबर ही के नहीं, अतः ब्रिटिश सर्कार इनके

शासन में बोल सकती है, ये उसके शासन में नहीं। इसका परिणाम यह होगा कि किसी भी राज्य में कुशासन की मात्रा एक सीमा के भीतर ही रहेगी। यदि उस सीमा का उल्लंघन हो तो ब्रिटिश सर्कार तत्काल ही रोक-टोक करेगी। इस नीति के अन्तर्गत एक और भी सिद्धान्त स्थिर हुआ। इसका नाम है-'नरेश का व्यक्तिगत उत्तर-दायित्व' The personal responsibility of the Ruler. अभी तक नियम यह था कि यदि किसी राष्ट्र में कुशासन बहुत ही बढ़ जाय, जैसा कि कुर्ग में हुआ था, और समझाने बुझाने से कोई लाभ न हो, तो अन्तर्जातीय नियम के अनुसार उससे युद्ध किया जाता था और तत्पर वह राज्य अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया जाता था। अब इस नियम का परित्याग कर दिया गया। अब यह स्थिर हुआ कि यदि कहीं कुशासन हो तो उसके लिये उत्तरदाता वहां का नरेश होगा, समस्त राष्ट्र नहीं। इस लिए दण्ड भी उसको ही मिलेगा, राष्ट्र को नहीं। इसी के अनुसार आज कल जब गवर्नमेण्ट किसी राष्ट्र के शासन से असन्तुष्ट होती है तो राजा या नव्वाब को गद्दी से उतार दिया करती है, उनके राज्य को नहीं मिलाती। इस सिद्धान्त से देशी नरेशों का गौरव तो बहुत ही घट गया क्योंकि अब गवर्नमेण्ट राजा को लगभग उसी प्रकार गद्दी से उतार सकती है जिस प्रकार कि वह किसी दोषी कलक्टर को ज़िले से बदल सकती है या नौकरी से निकाल सकती है। पर इसके साथ ही राष्ट्रों की स्थिति इससे दृढ़ हो गई, क्योंकि अब उनके मिला लिये जाने का डर जाता रहा। इस डर के दूर होने का एक और भी कारण था। अभी तक कई राज्य पुत्र न होने से च्युत हो

चुके थे परन्तु अब सभी रियासतों को इस विषय के सनद दे दिये गये कि औरस पुत्र न होने पर नरेशों को दत्तक पुत्र लेने का पूर्ण अधिकार होगा। इससे राज्य-च्युति का खटका मिट गया। नरेशों को यह भी विश्वास दिलाया गया कि ब्रिटिश सम्राट को उनका और उनके वंशों की स्थिति और समुन्नत प्रतिष्ठा की पूर्ण अभिलाषा है। अविश्वास के और भी कई चिन्ह क्रमशः ढीले कर दिये गये और होते जा रहे हैं। यद्यपि युद्ध और सन्धि के विषय में, राष्ट्रों के अधिकार उसी प्रकार सीमाबद्ध रहे, पर अब एक दूसरे से मिलने-जुलने और पत्र-व्यवहार करने में उनको बहुत कुछ स्वातंत्र्य मिल गया, अर्थात् उनका पारस्परिक पार्थक्य बहुत कुछ कम हो गया।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात स्पष्ट है कि इस नीति द्वारा राष्ट्रों की प्रतिष्ठा पहिले से घट गई, क्योंकि अब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को उनके भीतरी शासन में बोलने का खुल कर अधिकार हो गया, परन्तु उनकी स्थति और उनके अस्तित्व को पहिले से अधिक स्थिरता मिल गई।

इस नीति के भी कुछ उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं। इन में से एक का कथन तो पहिले ही आ चुका है। हम बतला चुके हैं कि झालावाड़ के महाराव ज़ालिमसिंह को गद्दी से उतार कर उनके स्थान में भवानीसिंह जी बैठाये गये और ज़ालिमसिंह जी पेंशन देकर काशी भेज दिये गये।

दूसरा उदाहरण संयुक्तप्रान्तान्तर्गत टेहरी (गढ़वाल) राज्य का है। यह राज्य, जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है, नैपाल के आधिपत्य से अंग्रेज़ी आधिपत्य में आया था। १८५९ में

यहां के राजा का देहान्त हो गया । उनके कोई औरस पुत्र न था। यदि गवर्न्मेंएट चाहती तो लार्ड डैलहौज़ी की नीति के अनुसार इसको च्युत मानकर मिला लेती पर ऐसा नहीं किया गया, प्रत्युत उनके अधर्म्मज पुत्र (अर्थात् दासी-पुत्र) भुवनसिंह को गद्दी दी गई और अभी तक उन्हीं के बंश में है।

तीसरा उदाहरण बड़ौदा का है । यह बड़ी ही प्रसिद्ध कथा है, क्यों कि जिस समय यह घटना हुई उस समय इसकी बड़ी धूम मच गई थी। हम पहिले ही उन सन्धियों का कथन कर आये हैं जो ब्रिटिश गवर्न्मेंट (या कम्पनी) और बड़ौदा के बीच में हुई थीं। यद्यपि १८२० की संधि में अत्यावश्यक अवसरों पर परामर्श देने का अधिकार ब्रिटिश गवर्न्मेंएट को दिया गया था पर अपने राज्य के भीतरी शासन में गायकवाड़ फिर भी पूर्णतया स्वतंत्र थे। न तो उन्हों ने कभी अंगरेज़ो से परामर्श मांगा था और न अंग्रेज़ों ने कभी अपने से उन्हें परामर्श दिया था। १८५८ में इसकी आवश्यकता पहिले२ प्रतीत हुई। उस साल महाराजा खण्डे-राव गद्दी पर बैठे। गवर्न्मेंएट इनके शासन से सन्तुष्ट न थी, इस लिये इनसे इस बात पर खेद प्रकाश किया गया। इसका कुछ विशेष प्रभाव तो पड़ा नहीं परन्तु गवर्न्मेंएट ने भी इसके अतिरिक्त और कुछ न किया। १८७० में उनके भाई मल्हार राव गायकवाड़ गद्दी पर बैठे। इनका शासन और भी असन्तोष-जनक ठहरा, अन्त में, १८७३ में ब्रिटिश गवर्न्मेंएट ने एक कमीशन इनके शासन की जांच करने के लिये नियत किया। इस कमीशन ने यही निर्णय किया कि इनका प्रबन्ध अत्यन्त बुरा है। गवर्न्मेंएट ने इसको सुधार के लिये २ वर्ष का समय दिया और यह कह दिया कि यदि १८७५ तक समुचित सुधार न

हुआ तो आप के अधिकार आप से छीन लिये जांयगे। यह अवकाश बीतने भी न पाया था कि ६ नवम्बर १८७४ को बड़ौदा के सर्कारी रेज़िडेण्ट, कर्नल सर राबर्ट फ़ेयर को किसी ने विष देने का प्रयत्न किया। गवर्न्मेंट को यह संदेह हुआ कि यह काम गाय-कवाड़ की प्रेरणा से किया गया है। इसी लिये १३ जनवरी १८७५ को एक घोषणा द्वारा गवर्न्मेंण्ट ने गायकवाड़ को उद्बद्ध कर दिया। इसका तात्पर्य्य यह है कि वह गद्दी से उतारे नहीं गये पर जब तक उनके दोषादोष का निर्णय न हो जाय तबतक वह राज्य कार्य्य से अलग कर दिये गये। निर्णय करने के लिये एक कमीशन बैठाया गया। इसमें ग्वालियर और जयपूर के नरेश भी थे। इस कमीशन की बैठक कलकत्ते में हुई। गायकवाड़ को भी वहीं जाना पड़ा। लगभग दो महीने तक पूरी जाँच-पड़ताल हुई पर कुछ निश्चित न हो सका कुछ कमिश्नरों की तो यह सम्मति थी कि विष देने के प्रयत्न से गायकवाड़ का सम्बन्ध था और कुछ की सम्मति में वह इस विषय में निर्दोष थे। यहां से यह अभियोग विलायत गया, पर अंत में विष के सम्बन्ध में इनके विरुद्ध पूर्ण प्रमाण न मिल सका। अतः यह सब से बड़ा अपराध, ब्रिटिश गवर्न्मेंण्ट के प्रतिनिधि को विष देने तथा ब्रिटिश गवर्न्मेंण्ट से विरोध करने का प्रयत्न तो निर्मूल ठहरा और १६ अप्रैल को गवर्न्मेंण्ट ने उसे उठा लिया, पर मल्हार राव का गद्दी पर रहना उचित न समझा गया। इतना ही नहीं, किसी कारण से उनकी संतान भी अयोग्य समझी गई और जब २३ अप्रैल को वह गद्दी से उतारे गये तब यह भी घोषित किया गया कि न केवल वह, किन्तु उनकी संतति भी, समस्त

अधिकारों और प्रतिष्ठाओं से भविष्य में वञ्चित कर दी गई। गायकवाड़ मद्रास भेज दिये गये और वहीं १८८२ में उनकी मृत्यु हुई।

अब गद्दी का प्रश्न उपस्थित हुआ। अन्त में यह निश्चित हुआ कि भूतपूर्व स्वर्गवासी महाराजा खण्डेराव की विधवा महारानी यमुनाबाई अंग्रेज़ी सरकार की सम्मति से एक लड़के को गोद लें। इस लिये गायकवाड़ वंश के कई लड़के चुन कर लाये गाये। उनमें से महारानी ने गोपाल राव नामक एक लड़के को गोद लेना स्वीकृत किया। इनको २७ मई को गद्दी हो गई, जब तक ये छोटे थे, राज्य का प्रबन्ध अंग्रेज़ी रेज़िडेण्ट के निरीक्षण में होता रहा। बालक गायकवाड़ को शिक्षा भी अत्युत्तम दी गई। इसी का यह फल है कि इन महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ (गद्दी पर बैठने पर इनका नाम बदल गया) का नाम सारे भारत में आदर के साथ लिया जाता है।

यह उदाहरण कई कारणों से ध्यान देने योग्य है। यह पहिला अवसर था जब कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने एक अग्र-गण्य राष्ट्र के प्रबन्ध में इस नीति के अनुसार कार्य्यवाही कर के हस्तक्षेप किया था। वर्तमान संधि-पत्रों की नवीन व्याख्या का भी यह पहला उदाहरण था। सभी प्रधान २ देशी नरेश, संधि-पत्रों के शब्दों के अनुसार, अपने २ राज्य के एक मात्र स्वामी थे और अपने २ देश के भीतरी शासन में स्वतंत्र थे। ऐसी अवस्था में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को बोलने का कोई अधिकार ही नहीं था। बोलने के पहिले उसे या तो कुर्ग की भाँति युद्ध करना चाहिए था या नवीन संधि। पर यह सब कुछ न हुआ और गवर्नमेण्ट के हस्तक्षेप करने

पर कोई देशी नरेश कुछ भी न बोला। इस का तात्पर्य्य यही हुआ कि अब सन्धि-पत्रों के शब्दों की व्याख्या ही दूसरी हो गई और 'स्वामी', 'स्वतन्त्र' आदि शब्दों के अर्थ ही कुछ और हो गये।

दूसरा उदाहरण मैसूर का है। यह हम लिख चुके हैं कि टिपू सुल्तान की मृत्यु के उपरान्त यह राज्य फिर प्राचीन हिन्दू राजवंश को दे दिया गया। परन्तु नये महाराजा समुचित शासन न कर सके यहां तक कि प्रजा में विद्रोह फैल गया। अन्त में ३ अक्तूबर १८३१ में गवर्नमेण्ट ने उन से सारे राजनैतिक अधिकार छीन लिये। पदवी उन की अब भी वही थी पर राज्य का शासन अंग्रेज़ी अफ़सर करते थे। १८६८ में इन की मृत्यु हुई। यह एक छोटा दत्तक पुत्र छोड़ गये थे। इन के शिक्षा का पूरा २ प्रबन्ध किया गया और गवर्नमेण्ट ने यह वचन दिया कि यदि यह बड़े होने पर योग्य पाये गये तो राज्य इन को दे दिया जायगा। इन का नाम चाम राजेन्द्र उदयार था। २५ मार्च १८८१ को इन को गद्दी मिली। इस को गवर्नमेण्ट की उदारता ही समझना चाहिए, क्योंकि मैसूर राज्य गवर्नमेण्ट का ही दिया हुआ था और वह उसी प्रकार मिला लिया जा सकता था जैसे कि कुर्ग मिला लिया गया। वह हस्ताक्षर—पत्र (Instrument of transfer) जिस के द्वारा मैसूर का शासन महाराजा को दिया गया देखने योग्य है। उस में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने शासन में हस्तक्षेप का पूरा अधिकार ले लिया है। इतना ही नहीं, उस की तेईसवीं धारा में स्पष्ट रूप से लिख दिया गया है कि "यदि महाराजा किसी निर्धारित नियम का उल्लङ्घन करें तो गवर्नमेण्ट राज्य को मिला ले

सकेगी या मसूर की प्रजा के सुशासन के लिये अन्य जो उपाय उचित समझेगी करेगी" "In the event of the breeah or non-observance by the Maharaja of Mysore of any of the fore-going conditions, the governor-general in counoil may resume possession of the said teiritories and assume the direct administration thereof, or make such other arrangements as he may think necessary to provide adequately for the good government of the people of Mysore" यों तो सभी राज्यों पर गवर्नमेएट का दबाव है, पर बड़े राज्यों में मैसूर ही एक ऐसा राज्य है जिस में अंग्रेज़ी सर्कार के अधिकार यों शब्दों द्वारा पूर्णतया खोल दिये गये हैं। मैसूर में आजकल शासन कैसा है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। उसकी सब जगह धूम मच रही है।

तीसरा उदाहरण मणिपूर का है। यह राज्य बङ्गाल और बर्मा की सीमा पर है। सन् १८२६ में यह कम्पनी का आश्रित हुआ। तब से लगभग साठ वर्ष तक कोई विशेष बात नहीं हुई। सन् १८६० में सूरचन्द्र सिंह महाराजा थे। प्रजा इनके शासन से प्रसन्न न थी। इसको ध्यान में रखते हुए इनके छोटे भाई टकेन्द्रजीत सिंह ने, जो सेनापति थे, इनको गद्दी से उतार दिया और सब से छोटे भाई कुलचन्द्र धार्यसिंह को, जो युवराज थे, गद्दी पर बिठाया। सूरचन्द्र सिंह भाग कर कलकत्ते चले आये। यद्यपि वह विद्रोह द्वारा उतारे गये थे पर गवर्न्मेंएट ने उन को अयोग्य समझ कर नये महाराज को ही स्वीकार करना उचित समझा। परन्तु

वह सेनापति को हटाना चाहती थी। मैं इसका ठीक कारण नहीं कह सकता। जो कुछ हो, ४७० गुरखों की एक पल्टन लेकर मिस्टर क्विण्टन और कर्नल स्कीन मणिपूर गये। वहां के सेनापति ने मिस्टर क्विण्टन,कर्नल स्कीन और मिस्टर ग्रिमवुड को मरवा डाला। इस पर लड़ाई छिड़ गई। एक महीने के भीतर ही कर्नल ग्रेहम ने मणिपूर की सेना को परास्त किया और इसके एक महीने के भीतर सेनापति और युवराज पकड़ लिये गये। १३ अगस्त १८६१ को सेनापति को फांसी दी गई और युवराज को आजन्म कालापानी का दण्ड दण्ड देकर वह अण्डमन टापू भेज दिये गये। गद्दी पर उसी वंश का एक पांच वर्ष का लड़का जिसका नाम चूड़चन्द्र था, राजा की उपाधि देकर बैठा दिया गया।

इस घटना से भी कई महत्त्व-पूर्ण बातें निकलती हैं। एक तो एक राज्य के शासन में हस्तक्षेप किया गया, दूसरे वह राज्य फिर लौटा दिया गया, और तीसरे, ब्रिटिश गवर्न्मेण्ट की मर्य्यादा रखने के लिये, उन लोगों को जिनके द्वारा अंग्रेज़ अफ़सरों की मृत्यु हुई थी, काला पानी और फांसी तक का दण्ड दिया गया,यद्यपि वे लोग राजवंश के थे। इस बार ब्रिटिश गवर्न्मेण्ट का अधिकार और भी स्पष्ट रूप से सब पर प्रकाशित कर दिया गया।

इधर दो और छोटे २ उदाहरण इस से कुछ मिलते जुलते हुए हैं। एक तो भरतपूर में सन् १८६७ में महाराजा रामसिंह से असन्तुष्ट होकर गवर्न्मेण्ट ने उनको गद्दी से उतार दिया और उनके स्थान में उनके लड़के कृष्णासिंह को बिठाया, दूसरे सन् १६०२ में पन्ना के महाराजा साहब अपनी

उद्दण्डता के कारण उतारे गये और उनके स्थान में उनके पुत्र महाराजा महेन्द्र यादवेन्द्रसिंह गद्दी पर बैठे।

एक उदाहरण मैसूर से मिलता जुलता है। बक्सर की संधि के पीछे काशीनरेश महाराजा चेतसिंह कम्पनी के आधिराज्य में आगये थे। उनसे और गवर्नर-जनरल वारन हेस्टिङ्ग्ज़ से कई कारणों से लड़ाई होगई। अंग्रेज़ लेखक इस लिये प्रायः चेतसिंह को ही दोषी ठहराते हैं पर कई निष्पक्ष लोगों की सम्मति में हेस्टिङ्ग्ज़ कुछ कम दोषी न थे। जो कुछ हो, अन्त में चेतसिंह हार गये। वह तो ग्वालियर चले गये परन्तु राज्य कम्पनी के हाथ में आगया। उसका बहुत सा अंश तो मिला लिया गय, शेष उनके भाञ्जे महीप नारायण सिंह को दे दिया गया। परन्तु इनके अधिकार बहुत कम हो गये थे और बीच में कई कारणों से इनमें और भी न्यूनता आगई थी। सन् १९११ में यह बात जाती रही। वर्तमान महाराजा प्रभुनारायण सिंह को नवीन सनद द्वारा फिर से अधिकार प्राप्त हुए। यों कहना चाहिए कि उस साल इस राज्य का पुनर्जन्म हुआ।

इन उदाहरणों से इस नीति का अर्थ और तात्पर्य्य स्पष्ट हो जाता है। देशी राष्ट्र अपने २ राज्य का शासन करते हैं पर उनके सुशासन के लिये ब्रिटिश गवर्नमेण्ट भी उत्तरदात्री है। या यों कहिए कि सारे देश के शासन के लिये अंग्रेज़ी सर्कार उत्तरदात्री है। परन्तु कहीं २ वह अपने अफ़सरों द्वारा प्रबन्ध कराती है और कहीं देशी नरेशों द्वारा। इसी लिए जिस प्रकार वह अपने अफ़सरों के काम की देख-रेख रखती है और उनको निकाल सकती है, उसी प्रकार वह इन नरेशों के साथ भी करती है। वह राजाओं को

गद्दी से उतार सकती है और गिरे हुओं को राजा बना सकती है। इस से इन नरेशों को कदाचित् कुछ कष्ट होता हो, पर प्रजा के लिये यह नीति प्रायः अच्छी है। इसमें सन्देह नहीं कि इस से राष्ट्रों का गौरव किञ्चित् कम होगया है पर किया क्या जाय ? जिन राष्ट्रों को स्वातन्त्र्य है और जिन में प्रजा को शासन में अधिकार है उनके लिये तो यह बड़े ही लज्जा की बात है कि कोई अन्य राष्ट्र उन पर दबाव डाले पर भारत की परतंत्र रियासतों के लिये, जिन में अभी प्रजा को शासन-विषयक प्रायः कोई अधिकार नहीं है, यही अच्छा है कि कभी २ उनके ऊपर कोई बड़ा राष्ट्र प्रजा के कल्याणार्थ दबाव डालता रहे। हां, यह आवश्यक है कि वह बड़ा राष्ट्र सर्वथा निःस्वार्थ और निष्पक्ष हो। साथ ही इसके उसको बुद्धिमत्ता से कार्य्य करना चाहिए। यदि बात २ में रोक-टोक की जाय तो राजा का बल और गौरव जाता रहेगा और वह शासन कर ही न सकेगा; यदि रोक-टोक न की जाय तो प्रजा पर अत्याचार होने की आशङ्का रहती है।

यह एक बड़ा रोचक प्रश्न है कि अंग्रेज़ी सर्कार देशी राज्यों के काम में किस प्रकार परामर्श देती है। परन्तु इसका उत्तर मिलना कठिन है। ये बातें या तो अंग्रेज़ी अफ़सर बता सकते हैं या देशी-नरेश और उनके मन्त्री, पर इनमें से कोई भी इस भेद को खोलने के लिये प्रस्तुत न होगा। ऊपरी प्रबन्ध तो इस प्रकार है कि उन बड़ी रियासतों में जो और रियासतों से दूर हैं प्रायः एक रेज़िडेण्ट रहता है। जहां कई रियासतें पास २ होती हैं वहां एक पोलिटिकल एजेण्ट इन सबके लिए होता है और कई पोलिटिकल एजेण्टों के ऊपर एक 'एजेण्ट टु दि गवर्नर-जनरल'

रहता है। जैसे, काश्मीर में रेज़िडेण्ट रहता है, बुन्देलखण्ड की पन्ना, ओछी, चर्खारी आदि रियासतों के लिये एक पोलिटिकल एजेण्ट है और बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, भोपाल, आदि के पोलिटिकल एजेण्टों के ऊपर एक 'एजेण्ट टु दि के गवर्नर जनरल' है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सब रियासतों में रेज़िडेण्ट आदि के अधिकार एक से नहीं होते इनकी मात्रा, उस राष्ट्र के सन्धि-पत्र, नरेश की योग्यता आदि कई बातों पर निर्भर है।

६—देशी राष्ट्रों के अधिकार और कर्त्तव्य।

प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्ति-समूह को कुछ न कुछ अधिकार और कर्त्तव्य हुआ करते हैं। इन के ही ऊपर उस का जीवन निर्भर है। उस के अधिकारों से हम को इस बात का पता लगता है कि अन्य व्यक्तियों का उस के साथ कैसा व्यवहार होगा और उस के कर्त्तव्य हम को यह बतलाते हैं कि वह अन्य व्यक्तियों के साथ कैसा व्यवहार करेगा।

किसी साधारण मनुष्य के भी सब अधिकारों और कर्त्तव्यों का पूरा २ उल्लेख करना प्रायः असम्भव है, परन्तु राष्ट्रों के अधिकारादि का विवरण तो और भी कठिन है। हमारे देशी राष्ट्रों का विषय इतर राष्ट्रों के विषय से भी कठिनतर है। हम इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में जो कुछ कह आये हैं उस से यह विदित हो जाता है कि साधारणतः राष्ट्रों के क्या २ कर्त्तव्य और अधिकार हुआ करते हैं। पर जैसा कि द्वितीय अध्याय में दिखलाया गया है—देशी राष्ट्रों

की परिस्थिति ही विलक्षण है। किसी २ अंश में स्वातंत्र्य है तो किसी २ में पारतंत्र्य—और फिर सब की अवस्था भिन्न २। ऐसा कोई नियम ही नहीं प्रतीत होता जो सब के लिये समान हो। गवर्नमेंएट ने भी ऐसी कोई पुस्तक नहीं निकाली जिसमें रियासतों के सब अधिकार और कर्तव्य स्पष्ट रूप से लिखे हों। इस अनवस्था से लाभ भी है और हानि भी। लाभ तो यह है कि यदि एक से नियम बनाने का प्रयत्न किया जाता तो बड़ा गोलमाल होता। किसी के लिये वह नियम नरम पड़ता और किसी के लिये कड़ा। फिर, जहां भिन्न २ अवस्था वाली इतनी रियासतें हैं वहां पर्य्याप्त और व्यापक नियमों का बनना भी तो असम्भव है, पर जब एक बार कुछ नियम बन जाते तो उनके बाहर जाना कठिन होता, चाहे किसी कारण से किसी विशेष अवसर पर वह नियम अन्याय-युक्त भी प्रतीत होता। पर नियमों के अभाव से हानि यह होती है कि कोई ठीक २ नहीं कह सकता कि किस अवसर पर क्या करना चाहिए और इससे कभी २ अंग्रेज़ सर्कार और देशी रियासत दोनों को असुबिधा पड़ती है।

यह सब होते हुए भी कुछ ऐसे विषय हैं जिनके सम्बन्ध में हम, यदि ठीक २ नहीं तो बहुत कुछ निश्चय के साथ, रियासतों के अधिकार आदि बतला सकते हैं, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि हम यह नहीं कहते कि हमारे बताये हुये साधारण नियम किसी राष्ट्र विशेष के लिये पूर्णतया ठीक हैं।

इस प्रश्न पर विचार करने के पहिले यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि राष्ट्रों को ये अधिकार कहां से मिले

और ये कर्तव्य कैसे उत्पन्न हुए। हम पहिले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र के अधिकारादि नैसर्गिक हैं और जनता की इच्छा ही उनका मूल स्थान है। परन्तु इन देशी राष्ट्रों के विषय में यह बात नहीं घटती। उनके अधिकारादि का अब पूर्ण–नैसर्गिक रूप जाता रहा है और उनके कई कृत्रिम हेतु उपस्थित हो गये हैं।

सब बातों पर विचार करके हम देशी राष्ट्रों के अधिकारों और कर्तव्यों के पांच प्रधान उत्पत्ति–स्थान पाते हैं:–

(१) उनका राष्ट्रत्व

(२) ब्रिटिश गवर्न्मेंएट से उनका आश्रित सम्बन्ध।

(३) उनकी सन्धियां और सनदें।

(४) सामान्य न्याय और मानव-जाति का कल्याण-साधन

(५) परम्परा–गत व्यवहार।

अब हम क्रमशः इनमें से प्रत्येक पर संक्षेपतः विचार करेंगे।

(१) उनका राष्ट्रत्व।

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रजा को सुशिक्षित बनावे, उसके लिये उत्तम नियम बनावे और न्यायालय खोले, शासन के लिये पुलिस आदि का प्रबन्ध करे और बाहरी शत्रुओं से रक्षा करने के लिये सेना आदि रक्खे। इन कर्तव्यों के पालन करने के लिये उसको यह अधिकार है कि वह प्रजा से समुचित कर ले, दुष्टों को दण्ड दे और पर–राष्ट्रों से यथासमय संधि विग्रह आदि करे।

राष्ट्र होने के कारण, हमारे राष्ट्रों के भी ये अधिकार और कर्तव्य हैं, पर पूर्णतया नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि सन्धि और विग्रह का अधिकार उनको नहीं है। इस विषय में वे ब्रिटिश गवर्नमेंण्ट की इच्छा के पूर्णतया अधीन हैं। दण्ड विधान के विषय में रियासतों के अधिकार भिन्न २ हैं। कई बड़ी रियासतें जैसे हैदराबाद, ग्वालियर, इन्दौर, उदयपूर इत्यादि प्राण दण्ड तक दे सकती हैं। इनके फ़ैसलों की अपील कहीं अन्यत्र नहीं होती। कुछ रियासतें ऐसी हैं जिन के प्राणदण्ड की आज्ञा पर सर्कारी एजेन्ट की मञ्जूरी की आवश्यकता होती है। कई रियासतें ऐसी हैं जो प्राण-दण्ड की आज्ञा दे ही नहीं सकतीं। उनके यहाँ जब ऐसे अभियोग होते हैं तब उनका फैसला अंग्रेज़ी सर्कार के नियत कर्म्मचारी करते हैं। किसी को केवल ६ महीने का जेल देने का अधिकार है और इनके फ़ैसलों की अपील सर्कारी रेज़िडेन्ट सुनते हैं। कितनी ही छोटी २ रियासतें ऐसी हैं जिनको दण्ड देने के अधिकार प्रायः है ही नहीं। जो कुछ अधिकार हैं भी वे उनके नाम से अंग्रेज़ी अफ़सरों के हाथ में हैं। यह हम पहिले कह आये हैं कि अंग्रेज़ी सर्कार ने यह वचन दे रक्खा है कि अंग्रेज़ी न्यायालय किसी राष्ट्र में कभी स्थापित न होंगे पर जब वह उचित समझती है, अर्थात् जब उसकी समझ में किसी राष्ट्र का प्रबन्ध बहुत ही बिगड़ जाता है, तब वह उस राष्ट्र के न्यायालयों में ही अपने अफ़सरों के निरीक्षण में न्याय-विधान बराबर करा सकती है।

इस सम्बन्ध में और भी कई ध्यान देने योग्य बातें हैं। यह एक साधारण नियम है कि किसी राष्ट्र की सीमा के भीतर जो व्यक्ति कोई अपराध करता है उसको उस राष्ट्र

के नियमों के अनुसार दण्ड दिया जाता है। पर इन रियासतों में ऐसा नहीं होता। नियम यह है कि यदि कोई ब्रिटिश प्रजा (British Subject) किसी देशी राष्ट्र में कोई अपराध करे तो उसका विचार अंग्रेज़ी पोलिटिकल अफ़सर के यहां होगा, रियासत के न्यायालय में नहीं। ब्रिटिश प्रजा में अंग्रेज़ और भारतीय दोनों आ गये। पर वस्तुतः यह नियम अंग्रेज़ों के लिये ही है इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि यदि किसी रियासत में कोई अंग्रेज़ किसी प्रकार का अपराध करे तो उसका न्याय अंग्रेज़ी अफ़सर करते हैं, उस रियासत के कर्म्मचारी नहीं। सम्भव है कि रियासत में कुछ ऐसे नियम हों जो अंग्रेज़ी सर्कार के नियमों से न मिलते जुलते हों पर न्याय प्रायः उनके अनुसार नहीं प्रत्युत अंग्रेज़ी नियमों के ही अनुसार होगा। यह प्रथा फ़ौजदारी के मुक़द्दमों के लिये है जिसमें जुर्माना होता है या किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड दिया जाता है दीवानी के मुक़द्दमे प्रायः रियासतों के न्यायालयों ही में होते हैं। कभी २ ऐसा होता है कि कोई अंग्रेज़ जो किसी राज्य में नौकर होता है, कोई अपराध कर बैठता है। उसकी अवस्था इतर अंग्रेज़ों से किञ्चित् भिन्न मानी जाती है, क्योंकि नौकरी करने से ही उसने उस रियासत के नियमों को अङ्गीकार कर लिया।

अंग्रेज़ लेखकों का यह कहना है कि यह प्रणाली बड़ी ही उत्तम है। एक तो इसमें अंग्रेज़ों की, जो रियासतों में व्यापारादि के लिये बसते हैं, रक्षा होती है, दूसरे राष्ट्रों को भी अंग्रेज़ों के मुक़द्दमों के न होने से एक प्रकार का सुभीता होता है। मेरी समझ में उनका यह कथन अयुक्त है। अंग्रेज़ों की रक्षा अवश्य होती है पर जब वह जानते हैं

कि देशी न्यायालयों के अधिकार से हम बाहर हैं तो स्वभावतः उनमें उद्दण्डता आ जाती होगी। रियासतों को भी इस से कोई सुभीता नहीं हो सकता। एक मनुष्य, चाहे वह अंग्रेज़ हो या कुछ और, कोई अपराध करता है परन्तु रियासत उसको दण्ड नहीं दे सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही स्थान में एक ही अपराध के लिये दो तरह का न्याय होता है। इस से एक तो अन्याय होने की सम्भावना है, क्योंकि सम्भव है कि अंग्रेज़ी अफ़सर उस अंग्रेज़ अपराधी को वैसा दण्ड न दें जैसा कि वह रियासत में पाता और जैसा कि रियासत में और लोग उसी अपराध के लिये पाते हैं, और दूसरे राष्ट्र की अप्रतिष्ठा है। दूसरा दोष यह है कि नियमतः यह प्रथा सभी 'ब्रिटिश प्रजा' अर्थात् 'अंग्रेज़ और भारतीय' के लिये होनी चाहिये। भारतीयों को इसके बाहर कर देने से अंग्रेज़ी गवर्नमेंट में पक्षपात का दोष आता है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि भारतीय, चाहे वह अंग्रेज़ी प्रजा हों चाहे देशी, चाल-ढाल, धार्मिक व नैतिक विश्वास और सामाजिक व्यवहार में प्रायः एक से होते हैं इस लिये देशी रियासतों के नियम उनके सर्वथा प्रतिकूल नहीं हो सकते। हम यह मानते हैं पर यह उत्तर पर्य्याप्त नहीं है। अनुकूल हो या प्रतिकूल, जब कोई अंग्रेज़ किसी राष्ट्र में जाकर रहने लगा तब उसको उसी राष्ट्र के नियमों के अनुसार चलना चाहिये। सम्भव है कि बहुत से भारतीयों को अंग्रेज़ी नियम प्रतिकूल प्रतीत होते हों पर क्या इस कारण, यदि कोई भारतीय विलायत में जाकर कोई अपराध करे तो, गवर्नमेंट उसे अपने नियमों के अनुसार दण्ड नहीं देती ?

बहुत सी बड़ी रियासतों में अंग्रेज़ी रेज़िडेण्ट रहता है या कई रियासतों के लिये एक पोलिटिकल एजेण्ट होता है। यह अफ़सर रियासत में जिस जगह रहता है उस जगह को रेज़िडेंसी (Residency) कहते हैं। रेज़िडेंसी में केवल रेज़िडेण्ट का बँगला ही नहीं होता। वहां कुछ पुलिस होती है, एक अस्पताल होता है, छोटा या बड़ा स्कूल होता है और कुछ पल्टन होती है। इस कारण वहाँ एक छोटा सा नगर बस जाता है। इस नगर में शासन रेज़िडेण्ट करता है। पुलिस, बाज़ार, शिक्षा आदि का प्रबन्ध सब वही करता है और न्यायालयों में भी अंग्रेज़ी नियमों का अनुसरण किया जाता है।

कहीं २ गवर्नमेंट ने देशी राज्यों में अपने सिपाहियों की छावनियां रक्खी हैं। इन्दौर राज्य के बीच में मऊ (Mhow) की छावनी भारत की सब से बड़ी छावनियों में से एक है। छावनी के आस पास भी एक नगर स्वतः बस जाता है। इस नगर में भी अंग्रेज़ी ही शासन रहता है। इतना ही नहीं, छावनी के आस पास उस देशी राष्ट्र को ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है जिससे कि सिपाहियों के स्वास्थ्य आदि में व्यतिक्रम न पड़े।

बहुत सी रेल की लाइनें देशी राज्यों के भीतर से गई हैं। कहीं २ दो तीन सौ माइल में एक लाइन कई राज्यों को काटती है। इस लिये ऐसा प्रबन्ध है कि रेलवे लाइन और उसके पास की रेलवे की भूमि, रेल के पुल और रेलवे स्टेशन, ये सब अंग्रेज़ी शासन में होंगे और इनमें पुलिस और

न्याय का प्रबन्ध अंग्रेज़ी सर्कार करेगी। यही नियम उन नहरों के लिये भी है जो अंग्रेज़ी सर्कार की निकाली हुई हैं और देशी राज्यों में होकर बहती हैं।

ऊपर हम छावनियों का कथन कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त देशी रियासतों में कुछ ऐसी जगहें हैं, जैसे गुजरात में राजकोट या बड़वान, जहां व्यापार या अन्य किसी कारण से अंग्रेज़ बहुत रहते हैं। इन स्थानों में भी शासन अंग्रेज़ी सर्कार ही करती है।

इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन रेज़िडेन्सी आदि उपर्युक्त स्थानों में अंग्रेज़ी शासन स्थायी नहीं रहता, स्वाम्य वहां रियासत का ही रहता है पर दबा हुआ। यदि किसी कारण से अंग्रेज़ी सर्कार अपनी छावनी आदि वहां से हटा ले तो फिर रियासत शासन करने लग जायगी।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है- अपराधिप्रत्यर्पण ((Extradition of Criminals) । साधारणतः यह नियम होता है कि राजनैतिक अपराधियों को छोड़ कर और अपराधी प्रत्यर्पित कर दिए जाते हैं। भारत में यह नियम नहीं चलता। यहां केवल इतना होता है कि यदि सर्कारी राज्य में कोई व्यक्ति कोई अपराध करे और फिर किसी रियासत में भाग जाय तो रियासत की पुलिस उसे पकड़ कर अंग्रेज़ी पुलिस को सौंप देगी। इसी प्रकार रियासतों से भागे हुए अपराधियों को पकड़ कर अंग्रेज़ी पुलिस लौटा देती है। यह तो बराबरी का प्रत्यर्पण है। पर यदि कोई अंग्रेज़ किसी देशी राज्य में कोई अपराध करे तो उसे लौटाने का भार अंग्रेज़ी सर्कार अपने ऊपर नहीं

होती। इसी प्रकार यदि अंग्रेज़ी सेना से कोई व्यक्ति भाग कर किसी देशी राज्य में छिप जाय तो वह तो पकड़ कर लौटा दिया जायगा पर किसी देशी राष्ट्र के भागे हुए सैनिक को बलात् लौटाने के लिये अंग्रेज़ी सर्कार उत्तरदात्री नहीं बनती। ये बातें कहां तक न्याय-सङ्गत हैं, पढ़ने से ही प्रतीत हो जाता है!

ये बातें जो ऊपर लिखी गई हैं रियासतों के दण्ड देने के अधिकार में बहुत कुछ कमी कर देती हैं। अपनी सीमा के भीतर ही कई स्थानों में और कई प्रकार के अपराधियों के विषय में उनके हाथ बंधे हुए हैं। इनको छोड़ कर वे अपने स्वाभाविक अधिकार से काम ले सकती हैं। छोटी २ रियासतों के अधिकारों के परिमित होने में तो कोई हानि नहीं है पर बड़े राष्ट्रों के लिये तो, मेरी समझ में, इन में से कई बातें अगौरव-कारक हैं।

प्रजा से कर लेने के विषय में, जैसा कि हम पहिले भी लिख आए हैं, रियासतें प्रायः स्वतन्त्र हैं पर यदि वे कोई ऐसा कर लें जो अंग्रेज़ी सर्कार की दृष्टि में अनैतिक हो तो वह उन पर निः सन्देह दबाव डाल कर उसे बन्द करवा देगी।

कर के साथ २ एक रीति और है जिससे कि राष्ट्र भारत के देशी राष्ट्र ही नहीं प्रत्युत पृथ्वी भर के सभ्य राष्ट्र, अपनी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति किया करते हैं। यह रीति है ऋण लेना। इस विषय में भी देशी राष्ट्र स्वतंत्र हैं पर यदि ऐसा प्रतीत हो कि कोई देशी नरेश राज्य के हित के लिये नहीं, वरन् अपने भोग विलास के लिये बहुत धन ऋण ले

रहा है तो ब्रिटिश गवर्नमेंट उससे रोक टोक कर सकती है। यदि यह ऋण सर्कारी राज्य के महाजनों से लिया गया है तो रेज़िडेण्ट को बिना बतलाये लिया गया ही न होगा क्योंकि ऐसे ऋणों के चुकाने से यदि उस नरेश के मरने पर. या जीते जी ही, रियासत मुकर जाय तो ब्रिटिश सर्कार उत्तर-दात्री नहीं होती। इसी भाँति कोई नरेश अपने राज्य को जागीर आदि दे कर बहुत से टुकड़ों में विभक्त नहीं कर सकता, क्योंकि इससे राज्य का व्यय तो कम होता ही नहीं और आय में साक्षात् कमी पड़ जाती है। जागीर देने की मना ही नहीं है पर एक नियत सीमा का उल्लङ्घन न होना चाहिये।

अब कर्तव्यों को देखिए। सब से पहिला कर्तव्य है उत्तम नियमों को बनाना और न्यायालयों का स्थापित करना। इस सम्बन्ध में हम दिखला चुके हैं कि सब रियासतों के अधिकार एक से नहीं हैं, पर यथाधिकार सब ही रियासतों में न्यायालय हैं। नियमों की अवस्था अभी बहुत से राज्यों में अनिश्चित है। बहुधा राज्य तो अंग्रेज़ी सर्कार के नियमों को ज्यों का त्यों पालन करते हैं। कुछ बड़ी रियासतों ने इन नियमों में कुछ आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लिये हैं। इस समय बड़ौदा, मैसूर, त्रावणकोर, बीकानेर आदि कुछ राज्यों में व्यवस्थापक सभाएँ नियत की गई हैं, जो नियमों के बनाने में सहायता देती हैं। पर यह स्मरण रहना चाहिए कि अभी तक प्रजा को इन राष्ट्रों में शासन सम्बन्धी नियम-बद्ध अधिकार नहीं हैं—नरेश की इच्छा ही सर्वोपरि नियम है।

शिक्षा के विषय में भी रियासतें प्रायः स्वतंत्र हैं। वे अपनी प्रजा को जैसी शिक्षा चाहें दे सकती हैं। बड़ौदा,

मैसूर, इन्दौर आदि राज्यों ने अपने यहां प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य्य और निःशुल्क कर दी है। कई बड़े राज्यों में कालेज हैं। मैसूर, ट्रावणकोर और हैदराबाद अपने यहां विश्व-विद्यालय खोलने वाले हैं। इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि सब रियासतों में शिक्षा की अवस्था सन्तोष-जनक है। छोटे राज्यों का तो कहना ही क्या है, कई बड़े राज्यों की दशा भी इस विषय में शोचनीय है, पर इसके साथ ही हर्ष की बात है कि कई राज्य अंग्रेज़ी सर्कार से कहीं आगे बढ़े हुए हैं।

पुलिस के विषय में भी रियासतों को स्वातन्त्र्य है। इन में से अधिकांश ने अपनी पुलिस अंग्रेज़ी पुलिस के ढङ्ग पर ही रक्खी है और पुलिस का काम भी प्रशंसा के योग्य रहा है। प्रायः बड़ी रियासतों में पुलिस का सब से बड़ा अफ़सर एक अंग्रेज़ी सर्कार से कुछ दिनों के लिये माँगा हुआ होता है। यह अफ़सर उस रियासत के अन्तर्मंत्री (Home Minister) या किसी अन्य अमात्य के नीचे काम करता है। बहुधा छोटी रियासतों में पुलिस का प्रबन्ध अंग्रेज़ी प्रान्तों से गए हुए किसी थानेदार या नायब-थानेदार के हाथ में होता है।

परन्तु कभी २ ऐसा हो सकता है कि इतना सब बातों के होते हुए भी देश का शासन बिगड़ जाय। यदि राजा बुरा हो तो ऊपर से सब प्रबन्धों के होते हुए भी देश में कुराजकता फैल जायगी। ऐसी दशा में अंग्रेज़ी सर्कार उस नरेश को पहिले तो जहां तक हो सकेगा समझाने का प्रयत्न करेगी। उनको सुधरने के लिये कुछ काल नियत कर देगी। यदि इस से भी काम न चला तो उन पर इस बात

के लिये दबाव डालेगी कि वह रेज़िडेएट या अन्य किसी अफ़सरों से जो इसी काम के लिये नियत कर दिया जाय परामर्श ले लिया करें और बिना परामर्श के कोई महत्कार्य्य न करें। पर यदि यह सब चेष्टा निष्फल हुई तो अन्ततोगत्वा उन को गद्दी पर से उतारने के सिवाय और कोई युक्ति नहीं है।

कभी २ एक और अवस्था उपस्थित होती है। नरेश के कुशासन से विवश होकर, इसके पहिले कि अंग्रेज़ी सर्कार कुछ करे, प्रजा या उसका कोई अंश विशेष, विद्रोह कर बैठता है। 'आश्रित सहकारिता नीति' से पहिले के काल में तो अंग्रेज़ी शासन इस दृश्य को चुपचाप देखा करता था। वह राष्ट्रों के भीतरी प्रबन्ध में बोलना नहीं चाहता था। अब यह बात नहीं है। अब अंग्रेज़ी गवर्नमेएट भी राष्ट्रों के सुप्रबन्ध के लिये उत्तरदात्री है। अतः जब कहीं प्रजा में अशान्ति बढ़ जाती है या विद्रोह खड़ा हो जाता है और उपद्रव इतना बढ़ जाता है कि वहां का नरेश उसे दमन करने में असमर्थ हो जाता है तब उस समय अंग्रेज़ी गवर्नमेएट उनकी सहायता करती है। नरेश को लिख कर सहायता के लिये प्रार्थना करनी पड़ती है और ब्रिटिश गवर्नमेएट इसी शर्त पर सहायता देती है कि शान्ति के पुनः स्थापित हो जाने पर उसकी इच्छा के अनुसार काम होगा। शान्ति स्थापित कर चुकने पर दो बातों का ध्यान उसे देना पड़ता है:-एक तो यह कि वे बातें दूर कर दी जायँ जिन्हों ने प्रजा को उभारा था; और दूसरे, यह कि उस राज्य के नरेश की मर्य्यादा भी बनी रहे। इसका यही उपाय है कि शासन का सुधार तो अंग्रेज़ी सर्कार की इच्छा के अनुसार होता है पर वह किया जाता है उस नरेश

के नाम से और उसी के कर्म्मचारियों द्वारा। इसके कई उदाहरण हैं। १८७० में महाराजा अलवर और उनके ठाकुरों में यहां तक झगड़ा बढ़ा कि लड़ाई होने के लक्षण देख पड़े। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने मध्यस्थ होकर शान्ति करदी, पर अलवर दर्बार को उसका परामर्श मानना पड़ा। १८६० में कांबे की प्रजा ने नव्वाब साहब को बाहर निकाल दिया। अन्त में अंग्रेज़ी गवर्नमेन्ट ने उनको गद्दी फिर से दिलवाया पर इसी शर्त पर कि आवश्यक सुधार किये जायँ। नाम तो नव्वाब साहब का हुआ पर काम हुआ अंग्रेज़ी सर्कार की इच्छा के अनुसार। इन बातों से यह प्रतीत होता है कि देशी राष्ट्रों की जड़ में कुछ दोष है, ये बार २ कुशासन कर के कठिनाई में पड़ती हैं और फिर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इनको उबारती है। स्यात् ब्रिटिश गवर्नमेण्ट न होती तो ये राज्य ही उलट जाते। यह विचार युक्त भी है और अयुक्त भी। देशी राष्ट्रों का मूल निःसन्देह सदोष है पर यह दोष केवल इन्हीं में नहीं है। जहां किसी एक व्यक्ति के हाथ में शासन का सूत्र स्वतंत्र-रूपेण दे दिया जायगा वहां ऐसा ही होगा। जब राजों से कोई पूछने वाला ही नहीं कि तुम ऐसा क्यों करते हो तो वह स्वभावतः आलसी, स्वेच्छाचारी, अभिमानी, उच्छृङ्खल और दुर्व्यसनी हो जायँगे। अच्छे नरेश भी होते हैं पर बुरों की अधिक सम्भावना है। यूरोप में तो प्रजा ने कई बार ऐसे नरेशों को प्राण-दण्ड दिया है। अधिकारच्युत करना और सिंहासन से उतारना तो साधारण बात है। अभी थोड़े ही दिन हुए, रूस की प्रजा ने अपने बादशाह ज़ार को गद्दी से उतार दिया और उनको सकुटुम्ब साइबीरिया में क़ैद कर दिया। टर्की के सुल्तान अब्दुलहमीद इसी प्रकार अपने देश

से निकाले हुए हैं। तात्पर्य्य यह है कि स्वेच्छाचारी नरेश की प्रजा से कभी न कभी खटपट होके ही रहती है और ऐसे झगड़ों में प्रायः प्रजा की ही जीत हुआ करती है। वह या तो उसी राजा के अधिकारों को कम करके उसे गद्दी पर रहने देती है जैसे कि किंग जॉन के समय में इङ्गलैंड की प्रजा ने किया था, या किसी अन्य व्यक्ति को राजा बना लेती है जैसे द्वितीय जेम्स के स्थान में विलियम को बैठा कर इङ्गलैंड की प्रजा ने किया था या राजा का नाम ही उड़ाकर एक प्रजातंत्र राष्ट्र बना लेती है जैसा कि लुई को मार कर फ्रांस वालों ने किया।

राजा और उसके अधिकार के बचे रहने के दो उपाय हैं, एक तो यह कि कोई, अन्य राष्ट्र उस नरेश का पक्ष लेकर प्रजा को दबा दे। यही देशी राष्ट्रों में ब्रिटिश गवर्नमेंट करती है। पर यह उपाय स्थायी है। सर्वोत्तम उपाय यही है कि प्रजा को उपाय मिल जायँ। वह भी शासन का निरीक्षण करे और उसकी इच्छा के अनुसार ही प्रबन्ध हो। बस झगड़ा आप ही मिट जायगा। इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हमारे राष्ट्रों की शासन-पद्धति इङ्गलैंड की भाँति हो। जब तक ऐसा न होगा कहीं न कहीं कुछ न कुछ झगड़ा होता ही रहेगा।

अब रहा रक्षार्थ सेना रखना। यह विषय इतना गम्भीर है कि इसको एक अलग अध्याय दिया जायगा।

ऊपर जो कुछ लिखा यगा है उस से हमें रियासतों के उन कर्तव्यों और अधिकारों का कुछ पता लगता है जो राष्ट्र होने ही से उन्हें प्राप्त हैं और यह भी कुछ २ ज्ञात होता है

कि रियासतों पर अंग्रेज़ी दबाव कितना है। इस दबाव की पूरी मात्रा कभी ठीक २ जानी नहीं जा सकती। दबाव कब, कितना और कैसे डालना चाहिये—यह अंग्रेज़ी सर्कार और उसके अफ़सरों की योग्यता की परीक्षा है। जैसा कि सर जॉन मैल्कॉम (Sir John Malcolm) कहते हैं:—"It is evident that our control can be supportable to any human being who has the name and appearance of power so long as it is exercised in a general manner. When control is divested of its larger and liberal character and takes a more minute shape, the nominal Prince and his officers are degraded into suspected and incompetent instruments of rule" "यह स्पष्ट है कि हमारा (अर्थात् अंग्रेज़ों का) दबाव ऐसे व्यक्ति के लिये, जो नाम से और देखने में अधिकार युक्त है (अर्थात् देशी नरेश) तभी तक सह्य हो सकता है जब तक कि वह सामान्य रूप से डाला जाय। जब दबाव का उदार रूप जाता रहता है और वह छोटी छोटी बातों में दिखलाया जाता है, तब वह व्यक्ति जो नाम को नरेश है और उसके अफ़सर शासन के अविश्वस्त और अयोग्य साधनों की कोटि में गिर जाते हैं।" इसके साथ ही जैसा कि हम बार २ दिखलाते आये हैं जब तक कि इन राष्ट्रों में प्रजा को पूरे अधिकार प्राप्त न हो जायँ तब तक कुशासन को, या उसकी सम्भावना को, रोकने के लिये यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति जो इनसे बड़ा और बलवान् हो निष्पक्ष भाव से इनके शासन का निरीक्षण करता रहे।

(१) ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से उनका आश्रित सम्बन्ध।

:o:

कुछ अधिकार और कर्तव्य ऐसे हैं जिनका मूल स्थान रियासतों का ब्रिटिश गवर्नमेण्ट पर आश्रित होता है। सब से बड़ा कर्तव्य तो यह है कि वे सम्राट् के भक्त रहें। उनके अधिकार, उनकी उपाधियां, उनकी गद्दी, सब इस सम्राट्-भक्ति पर निर्भर हैं। कोई रियासत कोई ऐसा काम नहीं कर सकती जो ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की इच्छा के विरुद्ध हो। अपनी प्रजा को छोड़ कर, कोई नरेश, बिना अंग्रेज़ी सर्कार की अनुज्ञा के, किसी को कोई उपाधि नहीं दे सकता और न, यदि उसे योरप या अमेरिका आदि से कोई उपाधि मिलती हो, तो बिना इस स्वीकृति के उसे स्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार छोटे २ नरेश बड़े नरेशों से कोई उपाधि नहीं ले सकते, क्योंकि ऐसा होने से इस सिद्धान्त में बाधा पड़ती है कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ही सर्वोपरि है और वही उपाधि आदि दे सकती है। जब कोई नरेश कहीं बाहर जाता है, चाहे उसकी यात्रा भारत में हो या बाहर, तो उसे अंग्रेज़ी सर्कार को सूचित कर देना होता है। अंग्रेज़ी सर्कार के मित्र इनके मित्र हैं और उनके शत्रु इनके शत्रु। इसी युद्ध में प्रत्येक राष्ट्र ने यह बात मान ली है कि जर्मनी हमारा शत्रु है और फ्रांस हमारा मित्र। जर्मन आदि सब शत्रु-जातियों के साथ व्यापार करने के विषय में जो नियम अंग्रेज़ी सर्कार ने अपने राज्य के लिये बनाए हैं वे सभी रियासतों को मान्य हैं।

कुछ रियासतों में अभी तक रुपये आदि सिक्के बनते हैं पर इन सब को अंग्रेज़ी रुपये को अपने राज्य में वही

स्थान देना पड़ता है जो उसका अंग्रेज़ी राज्य में मिला हुआ है। तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि भीतरी शासन में इनको बहुत कुछ स्वातन्त्र्य है।पर ये इस बात को भूल नहीं सकतीं कि ये ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंश मात्र हैं, स्वतंत्र राष्ट्र नहीं।

इन कर्तव्यों के साथ २ कुछ अधिकार भी हैं। यदि ये राष्ट्र स्वतन्त्र होते तो इनको योरप आदि में अपनी प्रजा की रक्षा करनी पड़ती। यदि किसी रियासत का कोई मनुष्य किसी अन्य देश में जाता तो उस रियासत को इस बात का प्रबन्ध करना पड़ता कि उस को किसी प्रकार का अनावश्यक कष्ट न उठाना पड़े। आज कल हमारी रियासतों को यह सब कुछ नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार ब्रिटिश गवर्नमेण्ट अपनी अन्य प्रजा के लिए प्रबन्ध करती है उसी प्रकार रियासतों की प्रजा के लिए भी करने के लिए वह बद्ध है। वस्तुतः, अंग्रेज़ी प्रजा और देशी राष्ट्रों की प्रजा में कोई भेद नहीं माना जाता। यह एक सुभीते की बात है। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इन राष्ट्रों से कहीं प्रबल है इस लिए उसमें रक्षा करने की सामर्थ्य अधिक है। इसी प्रकार समुद्र पर जहाज़ों की भाँति कच्छ आदि राज्यों के जहाज़ों की रक्षा होती है।

पर कभी २ एक अड़चन पड़ जाती है। कभी २ कोई कोई विदेशी राष्ट्र ऐसा नियम बना देता है कि गोरे आदमी तो अमुक २ काम कर सकेंगे पर रङ्गीन आदमी नहीं। रङ्गीनों की कोटि में चीनी, जापानी, भारतीय आदि हैं। चीन जापान की तो बात अलग है क्योंकि वे स्वतंत्र हैं और उनकी गवर्नमेण्ट उनकी रक्षा कर सकती हैं। भारतीयों की कौन पूछे? यह

काम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का है, पर खेद की बात है कि अंग्रेज़ी सर्कार ने अपनी भारतीय प्रजा के लिये वैसा प्रबन्ध नहीं किया जैसा कि होना चाहिए। हमारा खेद और भी बढ़ जाता है जब कि हम यह देखते हैं कि भारतीयों की यह दुर्गति ऐसे प्रदेशों में हुई जो अंग्रेज़ी सर्कार के आधिपत्य में हैं। कैनाडा, आस्ट्रेलिया, फ़िजी, दक्षिणी अफ़्रिका सभी अंग्रेज़ी राज्य के अङ्ग हैं और सभी ने अपने भरसक भारतीयों की दुर्दशा की है। पर कई कारणों से अंग्रेज़ी सर्कार ने प्रत्यक्ष रूपेण उन से कुछ भी न कहा। इन भारतीयों में अंग्रेज़ी प्रजा भी है और रियासतों की भी, और दोनों के साथ अन्याय हुआ है। यदि ये रियासतें स्वतन्त्र होतीं तो अपनी प्रजा के लिए प्रबन्ध करतीं। उन पर राष्ट्रों से ऐसे नियम बनाने के लिए शोक प्रगट करतीं या उन से युद्ध करतीं। और कुछ नहीं तो अपने यहां उनकी प्रजा के लिए वैसे ही नियम बनातीं। पर अंग्रेज़ी सर्कार की आश्रित होने से वे यह सब कुछ भी नहीं कर सकतीं। प्रजा विदेशों में दुःख पाती है क्योंकि किसी कारण से अंग्रेज़ी सर्कार उसकी रक्षा नहीं कर सकती, पर ये राष्ट्र उन दुःख देने वालों का कुछ भी नहीं कर सकते। यह कौन नहीं जानता कि महात्मा गान्धी को अफ़्रिका में कैसे२ कष्ट सहन करने पड़े हैं। वह गुजरात के पोरबन्दर राज्य के निवासी हैं। परन्तु राज्य न तो उनकी कुछ सहायता कर सका न उनके दुःख देने वाले बोअरों को कुछ दण्ड ही दे सका। यदि बोअर चाहें तो अब भी स्वच्छन्दता-पूर्वक पोरबन्दर में घूम सकते हैं।

यह दुःख की बात है और ऐसी बातें अनायास ही वैमनस्यजनक हो सकती हैं पर भविष्य में अंग्रेज़ी साम्राज्य

के भीतर स्यात् वह झगड़ा न उठे। इस बात की सम्भावना है कि भारतीयों के लिए जो कुनियम जगह २ पर बने हुए हैं वे उठा दिए जायँगे।

इस प्रकार के कर्तव्य और अधिकार भी बड़ी रियासतों के लिए कुछ अगौरव-सूचक से प्रतीत होते हैं परन्तु ये सभी रियासतें अपनी वर्तमान स्थिति में इस से अधिक की अपेक्षा नहीं कर सकतीं। यह भी सम्भव है कि अन्यथा उनकी अवस्था अब से भी बुरी होती।

(३) उनकी सन्धियां और सनदें।

भिन्न २ समयों पर भिन्न २ रियासतों ने विशेष २ कामों का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है। इनका करना उनका विशेष कर्तव्य हुआ। जैसे बुन्देलखण्ड के अधिकांश राज्यों ने इस बात का स्पष्ट वचन दिया है कि वे पहाड़ी घाटों को सुरक्षित रक्खा करेंगे। यह सच है कि यह वचन उस समय दिया गया था जब इस प्रान्त में पिण्डारियों और डकैतों से बहुत भय था पर जब वचन दिया गया है तब यह उनका एक विशेष कर्तव्य हो गया। इसी प्रकार कुछ रियासतों के साथ सेना सम्बन्धी संधियां हैं, पर इनका विचार अगले अध्याय में होगा।

(४) सामान्य न्याय और मानव जाति का कल्याण-साधन।

इस द्वार से भी रियासतों पर कई कर्तव्य उपस्थित होते हैं। यह बात उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो सकती है। कुछ दिन पहिले पृथ्वी के कई देशों में मनुष्यों को गुलाम बना कर रखने की रीति थी। ये विचारे भेड़ बकरी की भांति

बिकते थे। अब यह प्रथा यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों ने बन्द कर दिया है। बस, यद्यपि दो एक राज्यों को छोड़ कर भारत के देशी राष्ट्रों ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है पर उनका भी यह कर्तव्य है कि अपनी प्रजा को इस घृणित व्यापार से रोकें।

दूसरा उदाहरण धर्म्म सम्बन्धी है। अंग्रेज़ी सर्कार की यह नीति है कि किसी मनुष्य को उसके धार्म्मिक विचारों के लिये पीड़ा न दी जाय। भारत के विशेषतः हिन्दुओं के लिये यह कोई नया पाठ नहीं है। हमारे यहां धर्म्म विद्वेष सदैव से तिरस्कृत रहा है। फिर भी यदि किसी नरेश में धर्म्म द्वेष की अग्नि प्रज्वलित भी हो तो उसे अपने को रोकना होगा। अब ऐसा नहीं हो सकता कि कोई मुसलमान नरेश अपनी हिन्दू प्रजा से 'जज़िया' की भांति का कोई कर विशेष ले और न कोई हिन्दू नरेश अपनी मुसलमान प्रजा के साथ ऐसा बर्ताव कर सकता है। अब न्याय की दृष्टि से सभी धर्म्म और जातियों के मनुष्य तुल्य हैं। देशी नरेश भी इस बात को भली भांति समझते हैं। कई बातें ऐसी हैं जो बुरी हैं पर बहुत दिनों से चली आती हैं। अंग्रेज़ सर्कार भी उनके सम्बन्ध में, कई कारणों से चुप रहती है। जैसे, यदि मैं भूलता नहीं हूं तो, झींद राज्य में यह प्रथा थी कि कोई मुसलमान शहर में मस्जिद में अज़ान नहीं दे सकता था। सन् १९१६ में महाराजा साहब ने इस प्रथा को तोड़ दिया और अपनी मुसलमान प्रजा को धार्मिक स्वातन्त्र्य दे दिया।

राजपूतों में यह प्रथा थी कि प्रायः निर्धन मनुष्य लड़कियों को जन्म लेते ही मार डालते थे। अच्छे २ ठाकुर ऐसा करते थे। इसका कारण यह था कि विवाह में व्यय बहुत

होता था। जब अंग्रेज़ी सर्कार ने अपने यहां यह प्रथा बन्द की तो समझा बुझाकर रियासतों में भी इसे बन्द करवा दिया और रियासतों का यह कर्तव्य हो गया कि इसे रोकें।

इस समझाने के भी, समय २ पर भिन्न २ रूप रहे हैं। जब गवर्नमेंट का बल इतना नहीं था तब वह दबाव भी सँभल कर डालती थी। इसी लड़की मारने की प्रथा के सम्बन्ध में सन् १८१२ में नवानगर के जाम साहब किस प्रकार समझाये गये वह उनकी निम्न-लिखित घोषणा से प्रतीत होता है:- हमारी जारेजा जाति में लड़कियों के मारने की प्रथा चली आती है। इस विषय पर दोनों (अर्थात् नवानगर और अंग्रेज़) शासनों ने शास्त्र पर विचार किया। ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि जो ऐसा करता है वह पापी होता है और एक बच्चे को मारना सौ ब्राह्मणों को मारने के बराबर है। जो यह दुष्कर्म करता है वह उतने वर्षों तक नरक में रहता है जितने कि उस बच्चे के शरीर पर बाल हैं और फिर जन्म लेकर कुष्ठी होता है। अब इतने शास्त्रार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो काम निकृष्ट हैं उनका दुर्नीति-मय और अमानुषिक होना ही उनके रोके जाने के लिये पर्य्याप्त कारण माना जाता है और बिना शास्त्र की व्यवस्था पूछे ही प्रत्येक राष्ट्र यह अपना कर्तव्य समझता है कि मनुष्य मात्र के हित के लिये उनका मूलोच्छेद करे।

(५) परम्परा-गत व्यवहार।

ऊपर जिन बातों का कथन हुआ है उनसे हमको राज्यों के प्रधान २ कर्तव्यों और अधिकारों का पता निःसन्देह लग जाता है परन्तु इनके अतिरिक्त और कितने ही ऐसे अधिकार और कर्तव्य हैं जिनके सम्बन्ध में कहीं कोई लेख ही नहीं

मिलता। इतना ही नहीं कि वे किसी सन्धि-पत्र में नहीं लिखे गये हैं प्रत्युत न तो कभी ब्रिटिश गवर्नमेंट ने उनका नाम लिया है और न किसी रियासत ने। फिर भी रियासतें उन कर्तव्यों का पालन और उन अधिकारों का उपभोग करती आई हैं। सब बातें एक साथ स्मरण हो ही नहीं सकतीं, अतः सन्धि-पत्रों में सब का लिखा जाना असम्भव है और यदि प्रत्येक छोटी २ बात के लिखने का प्रयत्न किया जाय तो सन्धि-पत्र इतने बड़े और बे-डौल हो जायँ कि उन से काम लेना कठिन हो जाय। इस लिये ये बातें रियासतों और ब्रिटिश गवर्नमेंट की बुद्धि और शील पर ही छोड़ दी जाती हैं। दो मित्र राष्ट्रों को, जिनकी सीमायें एक दूसरी से मिली हुई हों, अनेक बातों में एक दूसरे की सहायता करनी पड़ती है, और ऐसा ही यहाँ भी होता है।

इसके अतिरिक्त, ब्रिटिश गवर्नमेंट इन राष्ट्रों की अधिपति है। और कई बातों में इनको उस से दबकर रहना पड़ता है और उसकी इच्छा का अनुसरण करना पड़ता है। पर ये बातें सन्धि-पत्रों में नहीं लिखी गई हैं। रियासतों की प्रतिष्ठा बनी हुई है और वे अपने कर्तव्यों का पालन करती जाती हैं। इसी प्रकार इन रियासतों के कई ऐसे अधिकार हैं जिनका कहीं लिखित प्रमाण नहीं है पर ब्रिटिश गवर्नमेंट उनकी रक्षा करती है।

लेखों के अभाव से यह लाभ है कि व्यर्थ के शब्दों के ऊपर लड़ाई कर के बाल की खाल निकालने की आवश्यकता नहीं होती और काम भी सुगमता से निकलता जाता है। न तो राष्ट्रों के अधिकारों की कोई नियत सीमा कर दी गई है और न उनके कर्तव्यों की—उनके सन्धि पत्रों और

सनदों की मूल धाराओं का उल्लङ्घन न करते हुए, इन अधिकारों और कर्तव्यों में समयानुसार कई परिवर्तन होते रहते हैं।

इस सम्बन्धमें एक और महत्त्व की बात स्मरण रखने योग्य है। कुछ बातें ऐसी हैं जो एक रियासत के सन्धि-पत्र में तो लिखी हैं पर दूसरे के सन्धि-पत्र में नहीं, परन्तु परम्परया उनका भार सभी राष्ट्रों पर तुल्य है। जब ब्रिटिश गवर्नमेंट किसी एक राष्ट्र से कोई विशेष बात कहती है जिसका साधारण जनता से सम्बन्ध हो तब वह अस्पष्टतया सभी राष्ट्रों के लिये घोषणा हो जाती है। जैसे, कई राष्ट्रों के सन्धि-पत्रों में लिखा हुआ है:- अब दोनों राष्ट्र (अर्थात् ब्रिटिश और वह देशी राष्ट्र) ऐसे मित्र होगये हैं कि जो एक का मित्र है वह दूसरे का मित्र होगा और जो एक का शत्रु है वह दूसरे का शत्रु होगा, अब यह निश्चिय है कि जिन रियासतों की सन्धियों में ये शब्द स्पष्टतया न कहे गये हों उनके लिए भी वे परम्परया पूर्णतया मान्य हैं। कई रियासतों ने अपने यहां डकैती आदि बन्द करने का स्पष्ट बचन दिया है पर इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि अन्य रियासतें इस कर्तव्य से मुक्त हैं। कुछ रियासतों ने शिशुओं का मारना या लड़कियों को मारना रोकने का वचन दिया है, पर अन्य रियासतों पर भी यह कर्तव्य तुल्यतया बाध्य है। इसका एक बड़ा उज्ज्वल उदाहरण है। बम्बई प्रान्त के अन्तर्गत 'सावानूर' एक रियासत है। वहां के नरेश मुसलमान हैं। उस राष्ट्र के साथ आज

तक ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की किसी प्रकार की सन्धि हुई ही नहीं। वह देशी राष्ट्रों के सभी कर्तव्यों का पालन और अधिकारों का उपभोग करता चला आ रहा है, पर इसके लिए कोई लिखित प्रमाण है ही नहीं। १८६६ में उसे भी और रियासतों की भांति गोद लेने का सनद मिला था—बस, इसके सिवाय इसके और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के बीच में और कोई प्रामाणिक लेख नहीं है। हां, परम्परा निस्सन्देह एक अत्यन्त प्रबल प्रमाण है।

ये तो राष्ट्रों के अधिकारादि हुए। कुछ अधिकार ऐसे हैं जो नरेशों की व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे, किसी देशी नरेश पर किसी अंग्रेज़ी न्यायालय में फ़ौजदारी का मुक़द्दमा नहीं चल सकता। इस बात का पालन न केवल भारत में ही होता है प्रत्युत योरप में भी। सन् १६१२ में एक अंग्रेज़ ने गायकवाड़ पर विलायत में एक फ़ौजदारी का अभियोग चलाना चाहा था पर गवर्नमेण्ट ने कहा कि वह 'विदेशी नरेश' (Foreign Sovereign) हैं, इस लिए यह अभियोग नहीं चल सकता।

कभी कभी गवर्नमेण्ट किसी नरेश के अधिकारों को चाहे तो बढ़ा सकती है। प्रायः सनदी राष्ट्रों को फाँसी देने का अधिकार नहीं होता, पर गवर्नमेण्ट किसी सनदवाले राष्ट्र के नरेश से प्रसन्न होकर उसको फांसी देने का अधिकार दे सकती है। यह अधिकार उसका व्यक्तिगत होगा और उसके उत्तराधिकारी को उसपर कोई स्वत्व न होगा। हां, यदि गवर्नमेण्ट प्रसन्न होकर उसे पैतृक करदे, तो बात दूसरी है।

इसी सम्बन्ध में राष्ट्रों के पूर्वापरत्व (Precedence) का कथन करना भी आवश्यक है। आजकल हैदराबाद का स्थान प्रथम माना जाता है, दूसरा स्थान बड़ौदा का है, तीसरा मैसूर का, इत्यादि। यह क्रम कई बातों पर निर्भर है; जैसे, उनका ऐतिहासिक महत्व, गवर्नमेण्ट से उनके सम्बन्ध की प्राचीनता, आदि। केवल क्षेत्रफल और वार्षिक आय पर। विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। पर इस बात का निर्णय करना कि किस राष्ट्र का क्या स्थान होना चाहिये पूर्णतया ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के हाथ में है। वह जिस राष्ट्र को जो स्थान देना उचित समझेगी देगी। इस में सन्देह नहीं कि स्थान नियत करते समय वह सभी बातों पर ध्यान देगी और इस बात का भरसक प्रयत्न करेगी कि किसी राष्ट्र के साथ अन्याय न हो पर जो कुछ वह अन्त में निश्चय करे, उसे मानना प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य होगा।

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि सभी बड़े राष्ट्रों की अवस्था प्रायः एक सी ही हो गई है। यद्यपि सन्धि-पत्रों के अनुसार कोई ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का 'ally' अर्थात 'मित्र' है और कोई गवर्नमेण्ट द्वारा 'protected' अर्थात 'रक्षित' है पर व्यवहार में इन सबकी परिस्थिति अभिन्न है। इसलिए इनके अधिकारों और कर्तव्यों में, अब प्रायः मात्रा-भेद रह गया है, जातिभेद नहीं।

१०—सैनिक प्रबन्ध।

हम नवें अध्याय में लिख आये हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा के लिए सेना रक्खे।

कभी कभी ऐसा होता है कि राष्ट्रों को पचासों वर्ष तक अपनी सेना से काम लेने का कोई अवसर नहीं आता, परन्तु, इस समय पृथ्वी की जैसी स्थिति है उस में न जाने कब काम पड़ जाय, इसलिए प्रस्तुत रहना ही अच्छा है।

रक्षा दो प्रकार के शत्रुओं से करनी होती है—भीतरी और बाहरी। कभी कभी राष्ट्र के भीतर ही कुछ लोग किसी कारण से शासन का विरोध करने के लिए खड़े हो जाते हैं और साधारण पुलिस उनको दबा नहीं सकती। उस समय बिना सेना के शान्ति पुनः स्थापित नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब कोई बाहरी शत्रु राष्ट्र पर आक्रमण करना चाहता है तब उसको रोकने, या यदि वह न रुके तो उसे पीछे हटाने के लिए सेना चाहिए। कभी कभी किसी कारण से स्वयं ही परराष्ट्र पर आक्रमण करने की आवश्यकता होती है। उस अवसर पर भी सेना के बिना काम नहीं चल सकता।

जब दो या अधिक राष्ट्र आपस में मिल जाते हैं बस इनके ये कर्तव्य ज्यों के त्यों बने रहते हैं। यदि मिलनेवाले दो राज्यों में से एक प्रधान हो और दूसरा आश्रित, तब भी इन दोनों में से किसी के भी इस कर्तव्य का लोप नहीं होता। तात्पर्य्य यह है कि हमारे देशी राष्ट्रों का अब भी यह कर्तव्य है कि अपने यहां सेना रक्खें और यथा समय इस सेना से भीतरी अशान्ति का दमन करें, बाहरी शत्रुओं को दूर रक्खें और पर-राष्ट्रों पर आक्रमण करें।

भीतरी अशान्ति को दमन करने का काम अब भी इनके लिये अनिवार्य्य है, यद्यपि जैसा कि हम पहिले दिखला चुके हैं यदि यह अशान्ति बहुत बढ़ जाय तो ब्रिटिश गवर्नमेंट

भी राष्ट्रों को सहायता देने के लिये प्रस्तुत रहती है। फिर भी प्रत्येक राष्ट्र को इतनी सेना रखनी ही चाहिए कि जिस के भय से किसी प्रकार का विद्रोह न हो और यदि अकस्मात् हो भी जाय तो शीघ्र ही ठंढा हो जाय। अब रही बाहरी शत्रुओं की बात। ये दो ओर से आ सकते हैं—भारत के भीतर या बाहर से। भारत के भीतर के सभी राष्ट्रों का ब्रिटिश गवर्नमेंट से एकसा सम्बन्ध है अतः सभी राष्ट्र आश्रित होने की दृष्टि से बराबर हैं। यदि इनमें कभी कोई विवाद खड़ा भी हो जाय तो उसका निबटारा ब्रिटिश गवर्नमेण्ट करती है। रहे भारत के बाहर के राष्ट्र, सो इनसे देशी राष्ट्रों का कोई स्वतंत्र सम्बन्ध ही नहीं है। न इनका कोई स्वतंत्र मित्र है, न कोई स्वतंत्र शत्रु। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसको ब्रिटिश गवर्नमेंट दबाना चाहती है उसको दबाने में सहायता देना और जो ब्रिटिश गवर्नमेंट को दबाना चाहता है उसको रोकने में सहायता देना—यही इन राष्ट्रों का कर्तव्य और यही इनके सेना रखने का एक उद्देश है।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि सेना कितनी रखनी चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर दो बातों पर निर्भर है। एक तो राज्य का विस्तार और उसकी आन्तरिक अवस्था। यदि राज्य बड़ा है तो भीतरी शान्ति के लिये सेना अधिक चाहिए। फिर, यदि प्रजा लड़ाकी है तो सेना अधिक चाहिए और यदि वह शान्ति-प्रिय है तो थोड़ी। दूसरी बात जिस पर सेना का बल निर्भर है-राष्ट्र का बाहरी सम्बन्ध है। यदि पर-राष्ट्रों से अधिक विरोध की सम्भावना है तो सेना अधिक चाहिए, नहीं तो कम। यह हम देख चुके हैं कि अपने बाहरी सम्बन्धों में हमारे राष्ट्र स्वतंत्र नहीं हैं अतः

ब्रिटिश गवर्नमेंट ही बतला सकती है कि उसे किस राष्ट्र से कितनी सहायता चाहिए। इस लिये राष्ट्रों को सेना के विषय में ब्रिटिश गवर्नमेंट की ही इच्छा पालन करनी होती है।

अभी तक कई कारणों से गवर्नमेंट ने यह नियत नहीं किया है कि वह किस राष्ट्र से अधिक से अधिक कितनी सैनिक सहायता चाहती है। इसी लिये राष्ट्रों की सेना का प्रश्न अभी तक अनिश्चित है। पर इतना निश्चित है कि रियासतों की सेना अंग्रेज़ी सेनाओं की सहकारिणी हैं और अंग्रेज़ी सेनाएं रियासतों की सेनाओं की। दोनों का उद्देश एक ही है—अर्थात् भारत में शान्ति और उसको पर-राष्ट्रों से सुरक्षित रखना।

अब हम यह देखेंगे कि यह सहकारिता प्रारम्भ से लेकर अब तक किस प्रकार होती आई है।

अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट से सम्बन्ध होने के पहिले तो राष्ट्रों पर कोई रुकावट थी ही नहीं। जो जितना धन व्यय कर सकता था वह उतनी सेना रख सकता था। राष्ट्रों के पूर्ण स्वतंत्र होने के कारण उनको अपनी २ सेना से काम भी बहुत लेना पड़ता था। परन्तु जब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट (या वस्तुतः कम्पनी) से उनका सम्बन्ध हुआ तो उनके स्वातंत्र्य में कमी आने लगी। यद्यपि प्रारम्भ में कई राष्ट्र स्वतंत्र ही माने गए थे पर वस्तुतः वे कम्पनी के आश्रित हो चले थे। पर-राष्ट्रों के विषय में उनको कम्पनी की सम्मति लेनी ही पड़ती थी। परन्तु जो राष्ट्र कम्पनी से सम्बन्धित नहीं थे उनके लिये यह सब कुछ भी रुकावट न थी। इसके कई उदाहरण हैं। निज़ाम हैदराबाद तो कम्पनी के मित्र थे और कम्पनी

के दबाव में थे, पर मरहठे स्वतंत्र थे। वे जब जिससे चाहते थे लड़ जाते थे, यहां तक कि निज़ाम को भी सताने से न चूकते थे। इससे कम्पनी के मित्रों की बड़ी दुर्गति थी। स्वयं तो वे कम्पनी से परामर्श लिये बिना किसी से लड़ने में प्रायः असमर्थ थे पर दूसरे उनसे खुल कर लड़ सकते थे। इस लिये उनकी रक्षा की आवश्यकता पड़ी। यह रक्षा वह अपनी सेनाओं द्वारा कर नहीं सकते थे। उनका प्रबन्ध कुछ ऐसा गड़बड़ था कि उनकी सेनाएं जितनी योग्य होनी चाहिएँ, न थीं। अतः उनको कम्पनी की सहाया की आवश्यकता पड़ी।

कहीं कहीं तो रियासतों ने आपही इसकी प्रार्थना की। अधिकांश रियासतों से सन्धि करते समय कम्पनी ने ही इस विषय की एक धारा डलवा दी। मैसूर का राज्य जब फिर से हिन्दू-राजबंश को दिया गया तब शर्तों में इस सहायता का भी उल्लेख था। किसी समय में अवध, नागपुर, पूना, हैदराबाद, मैसूर, ग्वालियर, इन्दौर, कोचीन, त्रावणकोर आदि कई राज्य इस प्रकार की सहायता पाते थे। अब तो इन में से कई राज्य ही नहीं हैं। इस समय हैदराबाद, मैसूर, ग्वालियर, इन्दौर, कोचीन, त्रावणकोर, बड़ौदा और कच्छ इस प्रकार की सहायता के अधिकारी हैं।

इन में से हैदराबाद और मैसूर का कथन पहिले भी हो चुका है। ग्वालियर और इन्दौर से कम्पनी से कई लड़ाइयाँ हुईं। जब अन्त में हार कर ये पूर्णतया आश्रित हो गये, तब इनको यह सहायता दी गई। कोचीन और त्रावणकोर को टिपू सुलतान के विरुद्ध सहायता की आवश्यकता पड़ी थी,

और बड़ौदा और कच्छ को सहायता देकर कम्पनी ने उनके राजवंशों को घोर आपत्ति से बचाया था, नहीं तो घरेलू झगड़ों से उनकी बड़ी हानि होने वाली थी।

इस सहायता का रूप यह है कि गवर्नमेंएट की सेना का एक टुकड़ा अलग कर दिया जाता है और सहायता पाने वाले राज्य के भीतर किसी अच्छे स्थान में छावनी बना कर रहता है। इस सेनांश को 'संरक्षक सेना' (Subsidiary Force) कहते हैं। उस राष्ट्र को इसका पूरा व्यय उठाना पड़ता है। जो रुपया इस लिए दिया जाता है उसको रक्षा शुल्क (Subsidy) कहते हैं। पहिले तो कई राष्ट्रों ने इस काम के लिए अपने अपने राज्यों के टुकड़े दे दिये थे पर अब प्रायः द्रव्य देने लेने की ही प्रथा है।

इस प्रबन्ध से रियासतों को तो जो कुछ लाभ है वह प्रत्यक्ष ही है, गवर्नमेंएट को भी लाभ है। अंग्रेज़ी फ़ौज की एक शाखा के लिए उसे कुछ व्यय नहीं करना पड़ता। है तो वह सेना गवर्नमेंएट की ही, अधिकार भी उस पर गवर्नमेंएट का ही है, पर उसका खर्च रियासतों के ज़िम्मे है। इस में सन्देह नहीं कि यदि आवश्यकता पड़े तो वह उस काम को अवश्य करे जिसके लिए रक्खी गई है। पर आजकल उसको सहायता का कदाचित् ही काम पड़ता है। सन्धि-पत्रों में लिखा रहता है, "It shall be employed when required to execute services of importance.........but it is not to be employed on trifling occasions" "महत्त्वपूर्ण सेवाओं में उससे काम लिया जायगा······परन्तु छोटी छोटी बातों के लिए उससे काम नहीं लिया जायगा।" पर आजकल महत्त्व-पूर्ण काम कम मिलते हैं।

इन संरक्षक सेनाओं से प्रारम्भ में कई काम निकले। एक तो रियासतों की रक्षा का प्रबन्ध हो गया, दूसरे बड़े राष्ट्रों पर गवर्नमेण्ट (या कम्पनी) का दबाव हो गया। जिस राज्य के बीच में कम्पनी की सेना का एक अंश, चाहे वह सहायता या किसी अन्य नामसे ही, पड़ाव डालकर बैठा हो वह जल्दी कम्पनी का विरोध नहीं कर सकता था। अतः राजनैतिक दृष्टि से यह युक्ति कम्पनी के लिये बड़ी उपयोगी थी। देशी राष्ट्र भी इस बात को समझते थे। एक उदाहरण से इसका पता चलता है। जब १८०३ में शिंदे (सिन्धिया) और कम्पनी से सन्धि हुई तब कम्पनी ने शिंदे से कुछ राज्यांश लेकर उनको एक संरक्षक सेना देने का वचन दिया। पर जैसा कि लीवार्नर कहते हैं "Sindhia, however, never avail himself of the force, but he preferred that the British should keep the districts acquired by conquest without maintaining army under their own command on his frontier." "शिन्दे ने उस सेना से कभी काम नहीं लिया। उनको यह स्वीकार था कि जो ज़िला अंग्रेज़ों ने उनसे जीत लिया था वह अंग्रेज़ों के पास रहे पर अंग्रेज़ लोग उनकी (अर्थात् शिन्दे की) सीमा पर अपनी सेना न रक्खें।"

अस्तु, इस सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने योग्य है। अभी तक रियासतों ने मिल कर भारत के, या कम्पनी के ही, संरक्षण का भार अपने ऊपर नहीं लिया था। अभी तक इतना हित-साम्य नहीं माना गया था। हां, उनके स्वातन्त्र्य-ह्रास की पूर्ति करने के लिये कम्पनी ने उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर निःसन्देह लिया था, यद्यपि इस रक्षा का व्यय राष्ट्रों को उठाना पड़ता था।

कुछ दिन पीछे एक ऐसा प्रबन्ध हुआ जिस से रियासतों ने कम्पनी को सहायता देने का भार अपने ऊपर लिया। यह बात धीरे २ कई राष्ट्रों में फैली। बड़ोदा, हैदराबाद, भोपाल, कोटा आदि कई राज्यों में इस का अनुसरण किया गया पर सिवाय हैदराबाद के और कहीं भी सफलता नहीं हुई। वह युक्ति यह थी। ये राष्ट्र अपनी सेना का एक अंश अलग कर देते थे। इस अंश की क़वायद, शस्त्र योजना, आदि अंग्रेज़ अफसर करते थे। वेतन भी अंगरेज़ अफसर ही वितरित करते थे, यद्यपि रुपया आता था रियासत के कोष से। इन सेनांशों की विचित्र परिस्थिति थी। ये थे अपनी २ रियासत की सेना के ही टुकड़े, पर इनका प्रबन्ध करते थे अंग्रेज़। ये इस लिये होते थे कि अति कठिन अवसरों पर कम्पनी की सहायता करें। ये अपने २ राष्ट्र की 'सहायक सेना' (Contingents) कहे जाते थे, जैसे बड़ौदा की सहायक सेना, जोधपूर की सहायक सेना, इत्यादि। क़वायद इत्यादि की दृष्टि से ये बड़ी उपयोगी थीं, पर यह विभक्त दायित्व की प्रथा बुरी थी। यह कहना बड़ा कठिन था कि ये सैनिक किस समय किधर झुकेंगे, अर्थात् यदि कभी इनके राष्ट्रों और कम्पनी में विरोध हो जाय तो ये किसका पक्ष लेंगे। सन् १८५७ के विद्रोह ने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया। यद्यपि रियासतें प्रायः ब्रिटिश गवर्नमेंट की मित्र ही बनी रहीं पर इनमें से अधिकांश सहायक सेनाओं ने विद्रहियों का साथ दिया। इस लिए शान्ति के पुनः स्थापित होने पर ये तोड़ दी गईं। दो एक रियासतों की सहायक सेनाओं की दशा कुछ ऐसी बिगड़ गई थी कि विद्रोही न होने पर भी वे बेकाम समझ कर तोड़ दी गईं।

इस समय केवल हैदराबाद की सहायक सेना बच गई है। यह १८०० में नियत हुई थी। पर १८५३ तक इसकी दशा भी बड़ी ही बुरी थी। परन्तु उस साल इसका सुधार हुआ। यह निश्चय किया गया कि इसमें ५००० पैदल, २००० सवार और ४ बैटरी तोपखाने की होंगी और यह पूर्णतया ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के आधीन रहेगी। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इस को जब जहाँ चाहेगी युद्ध के लिए भेज सकेगी, पर (देशी) सिपाहियों के दो बटेलियन हैदराबाद नगर के पास छोड़ दिये जाँयगे। इसके साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि निज़ाम को फिर और कभी अन्य सिपाही गवर्नमेंट के सहा-यतार्थ न देने पड़ेंगे। खर्चे के लिए निज़ाम सरकार ने कम्पनी को बरार प्रान्त दे दिया। इस प्रबन्ध का परिणाम यह हुआ कि यह सेना पूर्णतया कम्पनी (और तत्पश्चात् ब्रिटिश) सर्कार के आधीन आ गई और एक स्वामी के नीचे होने से इसने काम भी बराबर अच्छा किया है।

जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे प्रतीत होता है कि ये दोनों युक्तियां सदोष हैं। परन्तु आजकल एक तीसरे प्रयोग की परीक्षा हो रही है। कुछ दिन पहिले इस प्रकार का भय था कि वायव्य कोण से रूस भारत पर आक्रमण करना चाहता है। उस समय इस बात की आवश्यकता हुई कि भारत की संयुक्त शक्ति इस भावी आक्रमण को रोकने के लिए प्रस्तुत की जाय। उसी अवसर पर कई राष्ट्रों ने इस तृतीय युक्ति को आविर्भूत करके अपने साम्राज्य-प्रेम का परिचय दिया। अब और भी कई रियासतों ने इसको अवलम्बन किया है। ये रियासतें अपनी सेना के एक अंश को पूर्णतया उसी प्रकार रखती हैं जिस भांति अंग्रेज़ी सेना के देशी सिपाही

रक्खे जाते हैं। इनकी उनकी क़वायद और शस्त्र आदि प्रायः एक से ही होते हैं। परन्तु ये राष्ट्र के ही आधीन रहते हैं, अंग्रेज़ी गवर्नमेंट के नहीं, और इनके अफ़सर भी अधिकांश भारतीय ही होते हैं। निरीक्षण के लिए जो अंग्रेज़ अफ़सर अंग्रेज़ी गवर्नमेंट से माँग लिए जाते हैं वे भी उस काल के लिए राष्ट्र के ही आधीन रहते हैं। ये सिपाही पूर्णतया अपनी अपनी रियासत के ही आधीन होते हैं पर रियासतों ने अपनी इच्छा से इन सेनाओं को प्रस्तुत करने में यह उदार लक्ष रक्खा है कि यदि साम्राज्य की रक्षा के लिए कभी आवश्यकता पड़े तो ये भेजी जांय। इनको "साम्राज्य सेवी सेना" Imperial Service Troops कहते हैं।

ये सेनाएं कई बार लड़ाई में जा चुकी हैं। इस युद्ध में भी ये सम्मिलित हैं और चीन, दक्षिणी और पूर्वीय अफ्रिका, मिश्र, मेसोपोटेमिया, फ्रांस जहाँ जहाँ ये भेजी गई हैं इन्होंने बराबर यश पाया है।

सिवाय हैदराबाद और मैसूर के, और रियासतों से गवर्नमेंट ने कोई ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की है, जिससे उनके रक्षा-सम्बन्धी दायित्व की सीमा बँध जाय। उनका कर्तव्य है कि अंग्रेज़ी साम्राज्य की रक्षा के लिये जो कुछ सहायता-आर्थिक या सैनिक-उनसे देते बने, दें। कई राष्ट्रों के तो सन्धि-पत्रों में ये शब्द स्पष्टतया लिख दिए गये हैं कि युद्ध के समय में उनका सारा बल अंग्रेज़ी गवर्नमेंट की सेवा में उपस्थित किया जायगा।

परन्तु यह तो युद्ध की अवस्था है। साधारण समय में राष्ट्रों की सेनाओं की कुछ सीमा होनी चाहिए। सभी

रियासतों के लिये एक २ सीमा बँधी हुई है। उससे अधिक सेना वह नहीं रख सकती। जब १८४४ में ग्वालियर की सेना के लिये सीमा बाँधी गई तब कारण इस प्रकार बतलाया गया:– "Whereas the British Government is bound by treaty to protect the person of H. H. The Maharaja, his heir & successors, and to protect his dominions from foreign invasion, and to quell serious disturbances therein, and the army now maintained by His Highness is of unnecessary amount, embarrassing to H. H.'s Government, and the cause of dis-guietude to neighbouring states" "क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट सन्धि से, श्रीमन्त महाराजा साहब और उनके उत्तराधिकारियों को संरक्षित रखने के लिये, उनके राज्य की विदेशी आक्रमण से रक्षा करने के लिए और उसमें बड़े विद्रोहों को दमन करने के लिये, बद्ध है और श्रीमन्त की सेना, जो इस समय है, श्रीमन्त के शासन के लिये विक्षेपकारी और पड़ोसी राज्यों के लिये अशान्ति-कारक है......" यही हेतु सभी रियासतों में सेना कम करने का है।

रियासतों पर और भी कई रुकावटें हैं। सिपाहियों को भर्ती करने में भी वे पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हैं। योरप के कई राष्ट्रों में एक युक्ति है जिसे कांस्क्रिपशन (Conscription) कहते हैं। इसका तात्पर्य्य यह है कि प्रायः प्रत्येक पुरुष को कुछ काल के लिये सेना का काम सीखना पड़ता है। इससे सभी पुरुष सैनिक बातों को, जैसे क़वायद करना, शस्त्र चलाना, इत्यादि सीख जाते हैं। यदि कोई बड़ी आपत्ति आ

पड़े तो इससे बड़ा लाभ होता है। थोड़े ही काल में जितनी बड़ी सेनाएं चाहें प्रस्तुत हो सकती हैं। इस वर्तमान महा-युद्ध में ही फ्रांस, जर्मनी और आस्ट्रिया को इससे लाभ मिल रहा है। पर हमारे देशी राष्ट्र ऐसा नहीं कर सकते। वह ऐसी किसी युक्ति का अवलम्बन नहीं कर सकते जिससे कि उनकी प्रजा के सारे पुरुष क्रमशः सैनिक शिक्षा पा जायँ।

जो सिपाही हैं भी, उनको सज्जित करने में भी रुका-वटें हैं। साम्राज्य-सेवी सैनिकों के शस्त्रादि तो प्रायः वैसे ही होते हैं जैसे कि अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट के देशी सिपाहियों के, पर इतर सिपाहियों के शस्त्र इनसे बुरे होते हैं। प्रायः उनको कार्तूस की वन्दूकें नहीं दी जातीं। जो कुछ सामग्री होती है वह ऐसी ही जो पुराने चाल की और सदोष समझ कर ब्रिटिश सेना में परित्यक्त हो गई है। तोपें भी उनकी हल्की और पुराने चाल की हैं। यों तो जैसा कि एक अंग्रेज़ लेखक का कथन है, आवश्यकता पड़ने पर ये भी "Capable of doing much mischief" 'बहुत कुछ उत्पात करने में समर्थ' हैं, परन्तु इस में सन्देह नहीं कि हैं ये आज-कल की तोपों के सामने बहुत ही दुर्बल। जो कुछ सैनिक सामग्री राष्ट्रों को चाहिए वह या तो उनको अंग्रेज़ी गवर्न-मेंट मूल्य लेकर अपने पास से देती है या, उस की आज्ञा से, अन्यत्र मोल ली जाती है। बिना गवर्नमेंट की आज्ञा के कोई राष्ट्र अपने यहां सैनिक सामग्री के बनाने के लिये कार-खाना नहीं खोल सकता।

इसी प्रकार कोई राष्ट्र अपने यहां नए क़िले नहीं बनवा सकता। जो पुराने क़िले हैं उनको मरम्मत भी ब्रिटिश गवर्न-मेण्ट की आज्ञा के बिना नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के और भी कई अधिकार हैं। वह यदि आवश्यक समझे तो जिस राष्ट्र में चाहे अपने सिपाहियों की छावनी डलवा सकती है। उसकी सेनाएं जिस राष्ट्र में से चाहें बे रोक टोक जा सकती हैं। राष्ट्रों का यह कर्तव्य है कि सेनाओं के लिये रसद का प्रबन्ध करें। रसद का मूल्य अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट देती है। डाक और तार का प्रबन्ध भी, जो सैनिक दृष्टि से महत्त्व रखता है, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के ही हाथ में है। कई राष्ट्रों ने अपनी रेल की लाइनें अलग खोली हैं और उनका डाक विभाग भी पृथक है पर ब्रिटिश निरीक्षण इन पर भी रहता है।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राष्ट्र पूर्णतया ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के आधीन हैं। इनका कर्तव्य है कि अपने शक्य भर उसकी पूरी सहायता करें। यद्यपि ऐसा तो नहीं हुआ है कि सारे देश की सेनाएं एक सैनिक विभाग के आधीन हों पर अंग्रेज़ी निरीक्षण और उन रुकावटों ने, जो रियासतों पर डाली गई हैं, इस से मिलता जुलता ही परिणाम दिखलाया है। अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट ठीक २ जानती है कि किस रियासत के पास कितने सिपाही और कितनी सामग्री है और किस से क्या सहायता मिल सकती है। इस से अधिक देना रियासतों की इच्छा पर निर्भर है। वर्तमान युद्ध में ही कई राष्ट्रों ने गवर्नमेण्ट को आशातीत सैनिक सहायता दी है।

११–राष्ट्रों की वर्तमान परिस्थिति से लाभ और हानि।

यद्यपि हमने इस अध्याय के शीर्षक में केवल परिस्थिति शब्द रक्खा है, पर इसके अन्तर्गत ही राष्ट्रों की 'स्थिति' भी है, अर्थात् हम न केवल इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि राष्ट्रों की वर्तमान परिस्थिति से क्या हानि और लाभ है प्रत्युत यह भी देखेंगे कि उनकी स्थिति या अस्तित्व से क्या हानि और लाभ है।

इस प्रश्न पर चार दृष्टियों से विचार करना होगा:-

(१) राष्ट्रों की जनता की दृष्टि से।

(२) ब्रिटिश भारत (भारत का वह भाग जो अंग्रेज़ी शासन में है) की जनता की दृष्टि से।

(३) ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की दृष्टि से।

(४) इतर देशों के शासनों और प्रजा वर्गों की दृष्टि से।

इस बात की आवश्यकता नहीं है कि इन सब को पृथक पृथक अध्याय बना दिया जाय पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जो बात एक दृष्टिकोण से लाभों में परिगणित होती है दूसरे दृष्टिकोण से हानिकारक प्रतीत हो सकती है।

(१) लाभ।

मेरी समझ में इन राष्ट्रों के अस्तित्व से हम को पूर्ण लाभ है। इस में सन्देह नहीं कि एक देश में बहुत से स्वतंत्र राष्ट्रों का होना उपद्रव कारक होता है। जैसा कि एक फ़ारसी

लेखक ने लिखा है—'दस फ़क़ीर एक कम्बल में समा सकते हैं पर दो बादशाह सप्तद्वीप में भी नही समा सकते। जो स्वेच्छाचारी अधिकारी होता है वह स्वभावतः अभिमानी और असहिष्णु होता है। उस का ईर्षी और क्रूर होना भी असम्भव बात नही है। बस इसी कारण राजतंत्र राष्ट्र लड़ा झगड़ा करते हैं और राजाओं और राजवन्शों की तो जो कुछ गति होती है वह होती ही है, प्रजा व्यर्थ बीच में पिसती है। परन्तु छोटे २ स्वतंत्र राष्ट्र उसी समय होते हैं जब देश में कोई प्रचण्ड शासक नहीं होता। भारत में प्राचीन काल से ही इस बात का पता चलता है कि एक राजा सारे देश पर शासन करता था। इस बात का विचार प्रो० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'दि फण्डामेन्टल युनिटी आव इंडिया' में किया है। बहुत से अंग्रेज़ लेखकों का यह कहना है कि केवल अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव है कि लोग भारत को एक देश मानने लगे हैं। इसके पूर्व सब लोग अपने २ प्रान्त, प्रत्युत अपने २ ग्राम या नगर, को अपना देश मानते थे। इस के बाहर 'देश' की कोई कल्पना ही न थी। इसमें संदेह नहीं कि आज कल हमारे विचारों में इस प्रकार की कुछ सङ्कीर्णता आ चली थी। पर यह हमारा अधःपतन का काल था। सदैव ऐसा नहीं था। मुकर्जी महाशय ने वेदों, स्मृतियों और पुराणों के आधार पर प्रमाणित किया है कि हम जिसको अपना देश मानते थे वह न केवल आज कल का 'इन्डिया' था प्रत्युत उत्तर, पूर्व और पश्चिम म इसके बाहर जाता था। अब वह बाहरी भाग अफ़गानिस्तान, तिब्बत और बर्मा में मिल गया। इसी सम्बन्ध में उन्होंने दिखलाया है कि

प्राचीन काल से यहां 'चक्रवर्ती' राजे होते आए हैं। उन्हों ने पचीसों चक्रवर्तियों के नाम दिये हैं। ऐतिहासिक काल में भी अशोक, समुद्रगुप्त, आदि चक्रवर्ती हो गए हैं। मुसलमानों में अकबर से लेकर औरङ्ग़ज़ेब तक चक्रवर्ती हुए हैं। इन सब चक्रवर्तियों का अधिकार-क्षेत्र बराबर नहीं था पर लक्ष्य सब का एक ही था-समस्त भारत पर अधिकार होना, परन्तु चक्रवर्ती राजे अन्य राजाओं को नष्ट नहीं कर देते थे। प्रत्येक नरेश अपने २ राज्य में शासन करता था। भीतरी प्रबन्ध में तो उस समय इन छोटे राष्ट्रों को प्रायः पूर्ण स्वातन्त्र्य था, बाहरी प्रबन्ध में भी अब से स्वातन्त्र्य अधिक था। रियासतें एक दूसरे से सन्धि-विग्रह भी कर सकती थीं। पर अधिपति राजा की बात सर्वमान्य थी। उसकी इच्छा के प्रतिकूल चलना दण्डार्ह था। इस का प्रतिफल यह होता था कि देश में कई राष्ट्र होते थे जो बहुत सी बातों में स्वतन्त्र थे पर उन सबका एक नियन्ता होता था जो सब का पल्ला बराबर रखता था। और देश को इन प्रथक २ नरेशों की ईर्षाग्नि का क्षेत्र होने से बचाता था। राष्ट्र होते थे पर पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं।

वही अवस्था अब भी है। इस समय भी राष्ट्र हैं और वे अपने भीतरी शासन में न्यूनाधिक स्वतंत्र हैं। इनको पहिले की सी स्वाधीनता नहीं है। पर पूर्ण पराधीनता या एकराष्ट्र अभाव भी नहीं हुआ है। इन सब के ऊपर प्राचीन काल के चक्रवर्ती की भांति इंगलिश सम्राट् हैं। इस लिये इतने राष्ट्रों के होते हुए भी देश में कोई उपद्रव नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि तब और अब के चक्रवर्ती में अन्तर है। उस समय के चक्रवर्ती भारतीय थे। विदेश से आए हुये सम्राट

भी भारत को ही अपना घर बनाते थे, इस लिये उनके चाल ढाल पर भारतीय रङ्ग चढ़ जाता था। भारत में ही रहने के कारण उन का सम्बन्ध अपने आश्रित नरेशों के साथ बहुत कुछ अन्तरङ्ग हो जाता था। वह बात अब नहीं है। सम्राट् भारत के बाहर बहुत दूर रहते हैं। यद्यपि आज कल रेल, तार, जहाज़ आदि ने दूरी को बहुत कुछ जीत लिया है-सम्राट् भारत आ सकते हैं, देशी नरेश इँग्लैण्ड जा सकते हैं और पत्र व्यवहार सदैव ही हो सकता है—फिर भी पहिले की सी अन्तरङ्गता का आना कठिन है, विशेषतः छोटे राजाओं के लिये। पर यह बात अनिवार्य है। फिर भी सम्राट् के प्रतिनिधि वाइसराय यहां रहते हैं। इनका चुनाव बहुत सोच विचार कर किया जाता है और सम्राट की अनुपस्थिति में इन से भी लगभग वही काम निकल सकता है जो सम्राट् से निकलता।

अब यदि राष्ट्रों की जनता की दृष्टि से देखें तो मुझे राष्ट्रों से लाभ ही प्रतीत होता है। पहिली बात तो यह है कि जैसा किसी ने कहा है "Good government can never be a substitute for self-government" "स्वशासन का स्थान सुशासन नहीं ले सकता"। चाहे कोई विदेशी हमारे घर का प्रबन्ध हमसे अच्छा कर सकता हो पर हमको उसका अच्छा प्रबन्ध उतना प्रिय नहीं हो सकता जितना कि अपने हाथ से किया हुआ प्रबन्ध, चाहे वह उसमें कुछ बुरा भी हो। देशी राष्ट्रों में यही बात है। वहाँ राजा और प्रजा दोनों भारतीय हैं। दोनों के चाल-ढाल, धर्म, आचार-विचार में बहुत कुछ साम्य है। जहाँ हिन्दू प्रजा पर मुसलमान नरेश या मुसलमान प्रजा पर हिन्दू नरेश हैं

वहां भी आपस में उतना वैषम्य नहीं है जितना कि भारतीय और अंग्रेज़ में होता है; क्योंकि एक साथ रहते २ हिन्दू मुसलमानों में बहुत कुछ साम्य हो गया है। इसका फल यह होता है कि राजा प्रजा में सहानुभूति और समवेदना अधिक है। भाषा के एक होने से और भी सहायता होती है।

दूसरा लाभ यह है कि शासन सम्बन्धी प्रयोगों का इन राष्ट्रों में बड़ा सुभीता है। भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। इसमें कई उपजातियों, वर्णों और सम्प्रदायों के लोग बसते हैं। बहुत से नियम ऐसे हैं जो इन सब के लिये पूर्णतया ठीक नहीं हैं। यदि सारे भारत में केवल एक ही शासन हो तो उसमें निःसन्देह कठिनता पड़े। किसी के लिये कुछ नियम बनाने पड़े, किसी के लिए कुछ। इसके अतिरिक्त यदि किसी नई शासन-बिधि की परीक्षा करनी हो तो भी कठिनता पड़े। राष्ट्र छोटे हैं। इनके शासक अपनी प्रजा को भली भांति जानते हैं। यदि किसी नई शासन पद्धति की परीक्षा करना चाहें तो सुगमता से कर सकते हैं और यदि उससे कोई हानि प्रतीत हो तो उसे तत्काल पलट सकते हैं।

तीसरा लाभ यह है कि राष्ट्रों में आवश्यक सुधारों का प्रवेश जल्दी हो सकता है। एक सामान्य उदाहरण लीजिए। आज कल यह एक प्रमाणानापेक्षी सिद्धान्त है कि जनता के लिये शिक्षा एक अत्यन्त उपयोगी पदार्थ है। राष्ट्र की सारी उन्नति-नैतिक, राजनैतिक, आर्थिक-इसी पर निर्भर है। जिन पाश्चात्य राष्ट्रों ने शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया है उन्होंने विशेष उन्नति की। इसी बात को ध्यान में रख कर स्वर्गीय गोखले महोदय ने प्रधान व्यवस्थापक सभा में यह

प्रस्ताव उपस्थित किया था कि भारत में शिक्षा अनिवार्य्य और निःशुल्क कर दी जाय। अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट ने सारे प्रान्तीय गवर्नरों की सम्मतियां लीं और सभा में बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ पर परिणाम यह निकला कि यह परमावश्यक प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका और अंग्रेज़ी राज्य की प्रजा इस अमूल्य शिक्षा धन से वञ्चित रह गई। पर रियासतों में बिना इतने झगड़े के यही बात हो सकती है। जैसा कि हम पहिले बतला चुके हैं, मैसूर, बड़ौदा, इन्दौर आदि राज्यों में अनिवार्य्य और निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया गया है और अभी तक ऐसा करने से कोई आपत्ति नहीं देख पड़ी है।

इस प्रकार का एक उदाहरण और लीजिए। यह तो सभी सुपठित लोग मानते हैं कि बाल-विवाह की प्रथा बुरी है और इसे रोकना चाहिए। अंग्रेज़ लोग इस बीच में स्वतः पड़ना नहीं चाहते; क्योंकि यह एक सामाजिक प्रश्न है, और हिन्दुओं में आपस में ही एतद्विषयक मतभेद है। पर कम से कम दो हिन्दू राज्यों, बड़ौदा और मैसूर, ने अपने यहां बाल-विवाह प्रतिषेधी नियम बना दिए हैं, जिनके अनुसार कि बालकों और बालिकाओं के विवाह कराने वाले माता पिता को दण्ड दिया जाता है।

एक छोटा सा उदाहरण और लीजिए। यह सभी जानते हैं कि बचपन में हुक्का, सिगरिट, बीड़ी पीना अत्यन्त हानिकारक है, पर लाखों बच्चे इस विष का सेवन करते हैं। परन्तु कई रियासतों ने इस को रोकने के लिये नियम बना दिए हैं, जिन से उनके यहां इसकी बहुत कुछ रोक हो जायगी।

कई रियासतों ने हिन्दी को अपने यहां राष्ट्र-भाषा कर दिया है। इस से प्रजा को अत्यन्त लाभ हुआ है। पर अंग्रेज़ी राज्य में कई जगह हिन्दी अभी उर्दू के बराबर भी नहीं मानी जाती। कहने का तात्पर्य यह है कि इन राष्ट्रों में आवश्यक सुधार बड़ी जल्दी हो सकते हैं। एक तो ये छोटे हैं दूसरे राजा प्रजा एक दूसरे को भली भांति जानते हैं।

चौथा एक लाभ यह है कि राष्ट्रों में कोई वैसा कड़ा शस्त्र विधान (आर्मस एक्ट) नहीं है जैसा कि अंग्रेज़ी राज्य में। बहुत से लोगों के पास किसी न किसी प्रकार के शस्त्र हैं। शस्त्र होना पुरुष का एक भूषण है, और भूषण भी केवल शृङ्गार के लिये नहीं, किन्तु आवश्यक। शस्त्र होने से पुरुष का बल और साहस द्विगुण हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक खेद की बात भी लिखनी चाहिए। कई रियासतों में भी अब शस्त्र-विधान हो चला है। दूसरे, देशी नरेशों के शिकार के शौक़ ने प्रजा के शस्त्रों को भी बेकाम कर रक्खा है। मुझे भली भाँति ज्ञात है कि कई राज्यों में व्याघ्रों के मारे गाँव के गाँव उजड़ गये हैं पर उनको कोई मार नहीं सकता क्योंकि यह अधिकार केवल महाराजा साहब बहादुर को है! ऐसी अवस्था में हरिणों द्वारा खेतों का चौपट किया जाना तो कोई बात ही नहीं है।

इन सब बातों पर विचार करते हुए, मेरी समझ में, राष्ट्रों की जनता को अधिकांश लाभ ही है। यह निःसंदेह सम्भव है कि अत्याचारी नरेश प्रजा का जीवन दूभर कर दे, पर उसके लिए भी एक यह उपाय है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट

बीच में पड़ कर और उस नरेश को समझा बुझा कर और यदि तब भी न संभले तो उसे गद्दी से उतार कर, शांति स्थापित कर दे। इनके अतिरिक्त उन बातों को भी स्मरण रखना चाहिए जिनका कथन नवें अध्याय में आ चुका है। वहां हमने देखा है कि अंग्रेज़ी सम्बन्ध के कारण छोटी सी छोटी रियासत भी बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रहती है। यदि उसमें कोई बड़ा विद्रोह दैवात् हो जाय तो अंग्रेज़ी गवर्नमेंट उसको दमन करेगी। अंग्रेज़ी उपनिवेशों—अर्थात् कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका आदि को छोड़ कर प्रायः अन्य विदेशों में इनकी प्रजा की भी उसी प्रकार रक्षा होती है जैसे कि अंग्रेज़ी प्रजा की। यह सम्भव है कि बड़े राष्ट्र स्वतः भी इसका सुप्रबन्ध न केवल अन्य विदेशों में प्रत्युत अंग्रेज़ी उपनिवेशों में भी, स्वतन्त्र हो कर भी कर लेते, पर छोटों के लिए कदाचित ऐसा न होता।

यदि हम ब्रिटिश भारत की जनता की दृष्टि से देखें तब भी देशी राष्ट्रों की वर्तमान परिस्थिति लाभदायक है। इनका पूर्ण स्वतंत्र होना तो कदाचित् चिन्ताजनक होता क्योंकि देशी राष्ट्र और ब्रिटिश भारत के टुकड़े आपस में इस तरह मिले जुले हैं कि न जाने कब किस बात पर झगड़ा खड़ा हो जाता। पर इस अवस्था में हमको इनसे कई लाभ हैं। ब्रिटिश भारत अंग्रेज़ी शासन में है। यहां अंग्रेज़ी शिक्षा, अंग्रेज़ी चाल ढाल, अंग्रेज़ी वस्त्र का प्रचार बहुत है। देशी राष्ट्र इससे बचे नहीं हैं, पर जितना अंग्रेज़ीपन ब्रिटिश भारत में आया है उतना उनमें नहीं है। इसी लिए अब भी यदि किसी को पुरानी बातों की झलक देखनी हो तो उसे देशी

रियासतों में ही जाना पड़ेगा। कई रियासतें तो, जैसे उदयपूर, इस समय भी प्राचीन सभ्यता का बहुत ही अनुकरण करती है। शेष राष्ट्रों में भी सदैव नहीं तो दर्बार आदि के समय प्राचीन रूप बहुत कुछ देख पड़ जाता है, इस लिये ये देश को अपने पूर्व रूप को एकदम खो बैठने से रोकती हैं, जिस प्रकार कि जब बाइसिकिल ढलाव पर से बड़े बेग के साथ नीचे उतरने लगती है तब उसके ब्रेक को कस कर उसके बेग को कम करते हैं, उसी प्रकार हम जिस बेग से अंग्रेज़ों की नक़ल करते हैं उसकी कुछ कमी इन रियासतों के द्वारा हो जाती है।

इन रियासतों के ही द्वारा बहुत से योग्य व्यक्तियों को जनता की सेवा करने का अवसर मिलता है। बहुत से राष्ट्रों में उच्चपदों पर ऐसे लोग हैं जो ब्रिटिश भारत में सर्कारी नौकरी कर चुके हैं। अंग्रेज़ी सर्कार के पास इनके लिये स्थान ही नहीं है। इन में से कोई बहुत बढ़ता तो कलक्टर या जज होता पर तब भी उसके ऊपर न जाने कितने अफ़सर होते, पर रियासत में वही व्यक्ति स्वतंत्र मंत्री आदि का काम करता है और उसकी वह योग्यता जो ब्रिटिश भारत में बेकाम पड़ी रहती पूर्णतया उपयुक्त होती है।

सब से बड़ा लाभ यह है कि इन राष्ट्रों में भारतीयों को स्वराज-शिक्षा मिलती है। अंग्रेज़ लेखक हैं, अंग्रेज व्यापारी, अंग्रेज शासक, प्रायः यही गीत गाया करते हैं कि भारतीय अभी स्वराज के योग्य नहीं हैं, वह अपने देश का शासन नहीं कर सकते, उनमें आपस में इतना झगड़ा है कि यदि अंग्रेज न हों तो हिन्दू मुसलमान एक दूसरे को काट डालें और कोई बाहरी आकर देश का स्वामी बन जाय।

स्वराज्य का अर्थ है 'Government of the people by the p opl· f›r the people' अर्थात्, जनता का शासन जनता के द्वारा, जनता के कल्याण के लिये'। यह कहना भूल है कि भारतीय इसके योग्य नहीं हैं। पहिले भी भारत में स्वराज्य था। यह सत्य है कि भारत ने अपना स्वातंत्र्य खो दिया पर इस से यह सिद्ध नहीं होता कि वह स्वराज्य के योग्य नहीं है। प्रत्येक देश के इतिहास में एक समय आता है जब कि उस पर आधिपत्य पा लेना दूसरों के लिये सुगम होता है। स्वयं इंग्लैण्ड में ऐसा कई बार हुआ है। फ्रांस, जर्मनी आदि ने भी यह दिन देखा है। इसी समय बेल्जियम जर्मनी के पैरों के नीचे है, पर यह कोई नहीं कह सकता कि वह स्वराज्य के योग्य नहीं है। आपस के झगड़े क्या इटली, जर्मनी, या अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में कम थे ?

बात यह है कि अच्छी से अच्छी संस्था भी समय पाकर परिवर्तन के योग्य हो गली जाती है। जैसा कि टेनिसन कहते हैं:-

"The old order changeth, yielding place
to new.
And God reveals Himself in many ways
Lest one good custom should corrupt the
world."

प्राचीन क्रम परिवर्तित होकर नवीन को स्थान देता है और ईश्वर अपने को कई प्रकारों से प्रकाशित करता है इस लिये कि एक सुरीति संसार को दूषित न कर दे।"

बस इसी नियम के अनुसार देशों के सुदिन और दुर्दिन आते रहते हैं। आज से कुछ काल पहिले हमारे

दुर्दिन का समय था। हम आपस में लड़ मर रहे थे। हमने आप ही अंग्रेजों को देश लेने का अवसर दिया। उनको इस के जीतने का परिश्रम बहुत ही कम करना पड़ा, क्योंकि हम ही उनकी सहायता कर रहे थे। पर अब चक्र ने पलटा खाया है। हम चेत गए हैं। यह हम नहीं कहते कि अंग्रेज़ यहां से चले जांय, पर यह हम निःसन्देह कहते हैं कि अब हम स्वदेश के शासन का सूत्र दूसरों के हाथ देकर सोने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। इसी के लिये प्रसङ्गवशात् हम यह भी कहते हैं कि हम स्वराज के लिये अनधिकारी नहीं हैं।

अब रही झगड़ों की बात, सो ऐसे झगड़े कहां नहीं नहीं थे। योरप में क्या भिन्न सम्प्रदायों के झगड़े नहीं थे? क्या अब वहाँ ऐसे झगड़ों का अभाव है? सब से बढ़कर विचार करने की बात तो यह है कि हिन्दू मुसलमानों की लड़ाइयां प्रायः ब्रिटिश भारत में ही होती हैं। कुर्बानी, गोरक्षिणी, मुहर्रम के नाम पर रियासतों में कदाचित् ही कहीं लठ चलती हो। हिन्दू नरेश मुसलमान प्रजा पर और मुसलमान नरेश हिन्दू प्रजा पर शासन कर रहे हैं, पर दोनों में से कहीं भी खटपट नहीं होती। मनुष्य सभी जगह प्रायः एक से होते हैं, इस लिये रियासतों में ऐसे झगड़ों का होना असम्भव नहीं है। पर हां, ऐसा सुनने में स्यात् ही कभी आता हो। इस से कम से कम यह बात पुष्ट होती है कि यदि भारतीयों के हाथ में शासन हो तो ऐसे झगड़ों का होना कोई निश्चित बात नहीं है—सम्भव है कि ये न हों या बहुत कम हो जायँ।

अपनी पुस्तक—"आइडियाज़ एबौट इण्डिया" में डबलू० एस० ब्लंट साहब लिखते हैं:—

"When one has seen a native court......, one learns something about the traditions of paternal government long swept away in Madras and Bengal. One recognises how much there was that was good in the past in the harmonious relations of governors and governed. One is surprised to find how naturally such adverse elements as the Hindu Brahman and the Mohommedan nobleman lay down together under a system whch prevented class rivalry. One does not readily imagine from the mere teaching of History the reason which should place a Mussulman from Luknow in command of the army of a Rajput Prince or a Hindu statesman in the position of Vizier to a Nizam of the Deccan. It is impossible after visiting a native court to maintain that the Indian natives are incapable of indigenous government." (W.S. Blunt in 'Ideas about India.)

इस का भावार्थ यह है—"भारत की प्राचीन प्रणाली, जिसके अनुसार राजा प्रजा में पिता पुत्र का सा सम्बन्ध था पर जो मद्रास और बङ्गाल (अर्थात् प्रायः ब्रिटिश भारत) से कब की जाती रही है, उस समय कुछ २ समझ में आती है जब मनुष्य किसी देशी दर्बार को देख लेता है। उस समय प्रतीत होता है कि राजा और प्रजा में जो प्राचीन काल में प्रेमपूर्ण सम्बन्ध था उसमें कितनी अच्छाई थी। यह देख कर आश्चर्य होता है कि ऐसे विरोधी तत्व, जैसे कि हिन्दू ब्रा-

हुए और मुसलमान रईस, ऐसी पद्धति के द्वारा स्वभावतः मिल जाते थे जो परस्पर द्वेष को रोकती थी। केवल इतिहास की पुस्तकों के पढ़ने से यह बात ठीक २ समझ में नहीं आती कि राजपूत नरेश का सेनापति एक लखनऊ का मुसल्मान या दक्षिण के निज़ाम का वज़ीर एक हिन्दू राजनीतिज्ञ कैसे होता है। किसी देशी दर्बार को देखने के पीछे यह कहना असम्भव है कि भारतीय लोग स्वराज्य के योग्य नहीं हैं।"

जिस को मैसूर, बड़ोदा, त्रावनकोर, हैदराबाद आदि राज्यों के शासन का कुछ अनुभव है वह उपर्युक्त लेख का अवश्य समर्थन करेगा। इन राष्ट्रों का शासन कई अंशों में अंग्रेज़ी शासन से उत्तम प्रतीत होता है। कम से कम, वह अंग्रेज़ी शासन से हीन नहीं है।

देशी राष्ट्रों से भूलें भी होती हैं पर पृथ्वी पर ऐसी कौन गवर्नमेण्ट है जो भूल नहीं करती। यदि कोई गवर्नमेण्ट कभी भूल न करे तो पृथ्वी स्वर्ग से उत्तम स्थान हो जाय। जैसा कि एक लेखक का कथन है "Self government carries with it the right to make mistakes." "स्वराज्य के साथ ही भूल करने का भी अधिकार होता है।" बिना भूलों के सुधार हो ही नहीं सकता। इन राष्ट्रों की भूलें हमको सिखलाती हैं कि भारतीय शासन में कैसी २ भूलें सम्भव हैं और इन भूलों के क्या २ प्रतिकार हैं।

अतः इन राष्ट्रों से ब्रिटिश भारत की जनता को यह बड़ा लाभ है कि हमारे लिये ये स्वराज्य के आदर्श हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आदर्श सब अंशों में पूर्णतया निर्दोष नहीं हैं पर इस समय कई कारणों से हमको इससे अच्छा आदर्श मिल नहीं सकता। राष्ट्रों के शासन में बहुत सी बातें ऐसी

हैं जो हमारे लिये त्याज्य हैं पर इन राष्ट्रों का अस्तित्व सारे जगत् को यह दिखलाने के लिये पर्य्याप्त है कि भारतीयों को स्वराज के लिये अयोग्य बतलाना मिथ्या भाषण है।

अब यदि इन राष्ट्रों को ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की दृष्टि से देखें तो भी इनकी वर्तमान परिस्थति लाभदायक है। इनके स्वतन्त्र होने से जो हानियां होतीं वह तो पहिले के अध्यायों में दिखलाई जा चुकी हैं। पर इनके न होने से ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की सरासर हानि होती। अंग्रेज़ लोग, चाहे वह कितने ही अच्छे क्यों न हों, विदेशी और, अधिकांश भारतीयों के लिये, विधर्मी हैं। वह इस देश में बहुत थोड़े दिनों के लिये ठहरते हैं और उन थोड़े दिनों में भी प्रजा से बहुत कुछ पृथक रहते हैं। उनका सम्बन्ध प्रजा के साथ व्यवहारिक मात्र रहता है। इसमें उनका विशेष दोष नहीं है। यह बात एक प्रकार से अनिवार्य्य है। यह असम्भव सा है कि एक अंग्रेज़ वाइसराय, जो भारत में कुल पांच वर्ष रहने वाला है, प्रजा के साथ उस भांति होली खेले जैसे कि देशी नरेश खेलते हैं। ऐसी अवस्था में यह भी असम्भव सा ही है कि अंग्रेज़ शासक प्रजा के हृदय में उतनी श्रद्धा उत्पन्न कर सकें जितना कि देशी नरेश कर सकते हैं। अंग्रेज़ों के लिये भय हो सकता है, उनके लिये प्रतिष्ठा हो सकती है, पर प्रेम और ही वस्तु है—भक्तितत्व ही दूसरा है।

इसी कारण अंग्रेज़ लोग प्रजा के कष्टों और विचारों को भी उतनी अच्छी भांति नहीं जान सकते जितना कि शासकों को चाहिए। उनको दूसरों पर भरोसा करना पड़ता है और ये बीच वाले स्वार्थी हो सकते हैं, जिनसे कि कुछ ठीक २ पता चल नहीं सकता।

ऐसे अवसर पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को रियासतों से बड़ी सहायता मिल सकती हैं। वह देख सकती है कि रियासतों की किस कार्य्यवाही का प्रजा पर क्या प्रभाव पड़ा और उनके अनुभव से शिक्षा ले सकती है। यदि वह देशी नरेशों का विश्वास करे, तो उनसे पूछ सकती है कि प्रजा को किस समय किस बात की आवश्यकता है। यह नरेश प्रायः निष्पक्ष होंगे और गवर्नमेंट को प्रजा को इच्छाओं और विचारों के सम्बन्ध में बहुत कुछ सत्परामर्श दे सकेंगे, यदि उनको यह विश्वास हो जाय कि उनसे जो कुछ पूछा जाता है वह केवल उपचार के लिये नहीं है।

इन रियासतों का महत्व नीचे के उद्धृत वाक्यों से भली भाँति प्रतीत होता है :-

"I am convinced that the fundamental political mistake of able and experienced Indian officials is a belief that we can hold India securely by what they call good government. Politically speaking, the Indian peasantry is an inert mass. If it ever moves at all, it will move in obedience not to its British benefactors, but to its native Chiefs and Princes however tyrannical they may be" (Lord Lytton to Lord Salisbury, 11th May, 1877.) अर्थात, मुझे यह निश्चय हो गया है कि सबसे बड़ी राजनैतिक भूल जो योग्य और अनुभवी भारतीय (भारतनिवासी नहीं किन्तु भारत में काम करनेवाले अङ्गरेज़ आदि) कर्मचारी करते हैं वह उनका यह विश्वास है कि हम (अर्थात् अंग्रेज़) केवल सुशासन से भारत को दृढ़तापूर्वक अपने

हाथ में रख सकते हैं। राजनैतिक दृष्टि से, भारतीय कृषकवर्ग एक जड़ ढेर है। यदि वह कभी चलायमान होगा तो अपने अंग्रेज़ हितैषियों की आज्ञा से नहीं, किन्तु अपने देशी सर्दारों और नरेशों की आज्ञा से, चाहे ये (अर्थात् सर्दार और नरेश) कितने ही अत्याचारी हों (लार्ड सैल्सबरी के नाम लार्ड लिटन का पत्र, ११ मई १८७७)।

अपनी २० जुलाई १६०६ की बजट-स्पीच में लार्ड मार्ले ने कहा था- 'It is a question whether we do not persist in holding these powerful men (the Indian Princes-Author) too lightly. (Lord Morley's Budget speeches, 20th July 1906) अर्थात, 'यह एक बड़ा प्रश्न है कि हम (अर्थात् अंग्रेज़) इन प्रबल पुरुषों (अर्थात् देशी नरेशों) का हठात् कम गौरव तो नहीं करते।"

२९ नवम्बर १८९९ को ग्वालियर में व्याख्यान देते हुए लार्ड कर्ज़न ने कहा था—"The Native Chief has become by our policy an integral factor in the Imperial organization of India. I claim him as my colleague and partner." अर्थात् हमारी नीति ने देशी नरेशों को भारत के सम्राजीय सङ्गठन का एक प्रधान अङ्ग बना दिया है। मैं उनको अपना सहकारी और सहभागी समझता हूं।" अपनी पुस्तक 'इण्डियन प्राब्लेम्स' में मि० एस० एन० मित्र लिखते हैं 'If properly handled, a Prince even outside his own territories would not only be a figure-head but actually the propelling power of at least the caste or community to

which he belongs." अर्थात्, यदि उचित रीति से काम लिया जाय तो अपने राज्य के बाहर भी देशी नरेश न केवल अकिञ्चित्कर व्यक्ति होंगे प्रत्युत कम से कम अपने वर्ण या जाति में एक प्रबल सञ्चालक शक्ति होंगे।"

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि इन राष्ट्रों और इनके नरेशों का भारत के राजनैतिक संसार में कितना महत्व है। यदि सच पूछा जाय तो ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की स्थिति बहुत कुछ इनके ऊपर निर्भर है। शान्ति के समय की तो बात ही और है पर यदि दुर्भाग्यवश देश में किसी प्रकार की अशान्ति फैले तो इन राष्ट्रों का बड़ा प्रभाव पड़ सकता है, व्यक्तितः ये वहुत प्रबल न हों पर इनमें से अधिकांश जिस ओर झुक जायं भारत के इतिहास को सम्भवतः उस ओर झुका सकते हैं। इन के पास बल है, अधिकार है, धन है और प्रभाव है। जनता इन को अर्ध-देव तुल्य मानती है। सन् १८५७ के बड़े विद्रोह के अवसर पर इन्होंने ब्रिटिश गवर्नमेंट की जो सहायता की थी उसका कथन पहिले भी आ चुका है। इस विषय पर कई पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इस सम्बन्ध में उस समय के गवर्नर जनरल और वाइसराय, लार्ड कनिंग (Lord Canning) ने कहा था Those patches of native government served as a breakwater to the storm which would otherwise have swept over us in one great wave." अर्थात, "यदि ये देशी शासन के टुकड़े बीच में न होते तो एक भयंकर लहर हम लोगों (अर्थात अंग्रेज़ों) को दबा देती पर इन्हों ने उस चण्डवात के बल को थाम लिया।"

वर्तमान यूरोपियन युद्ध में भी रियासतों ने ब्रिटिश गवर्नमेंट की बड़ी सहायता की है। रुपयों का तो कहना ही

क्या है, सेना बहुत गई। यद्यपि रियासतों की सहायता के लिये कोई सन्धि-कृत सीमा नहीं है, पर इतने की आशा भी न थी। इतना ही नहीं—बीकानेर, रतलाम, जोधपुर, मुधोल आदि के नरेश स्वयं युद्ध-स्थान में गए और वहां अपनी कार्य-कुशलता से प्रशंसा के भाजन बने।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिये देशी राष्ट्रों की वर्तमान परिस्थति पूर्णतया लाभदायक है और जितना गवर्नमेंट इनको अपना अधिक मित्र बना सकेगी उतना ही उसको इनसे अधिक लाभ पहुंचेगा।

चौथी दृष्टि इतर देशों के शासनों और प्रजावर्गों की है। इसका विचार अत्यन्त कठिन है। हमारे राष्ट्रों का इतर देशों के शासनों से किसी प्रकार का स्वतन्त्र सम्बन्ध है ही नहीं; जो कुछ सम्बन्ध है वह ब्रिटिश गवर्नमेंट के द्वारा है, अतः यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अन्य राष्ट्रों और शासनों को इन राष्ट्रों से क्या लाभ पहुंचता है। हाँ, यदि ये राष्ट्र ब्रिटिश गवर्नमेंट से असन्तुष्ट होते तो ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के शत्रुओं को कदाचित् इन से किसी प्रकार का लाभ होता।

(२) हानि।

अब हमको यह देखना है कि राष्ट्रों की वर्तमान परिस्थिति से क्या २ हानि होती है। इस प्रश्न पर भी हम पहिले राष्ट्रों की जनता की दृष्टि से विचार करेंगे। सबसे बड़ी हानि जो इस जनता को होती है वह पूर्ण स्वातंत्र्य की है। इसमें सन्देह नहीं कि रियासतों में ब्रिटिश भारत की अपेक्षा कुछ अधिक स्वाधीनता है, पर पूर्ण स्वातंत्र्य कुछ और ही वस्तु

है। हम लोग स्वतन्त्र जातियों के स्वातन्त्र्याभिमान की कल्पना भी नहीं कर सकते। उनकी आंख में तेज ही और होता है, उनके शरीर की चाल ही और होती है, उनके चित्त की गति ही और होती है। उन जातियों के मनुष्य, चाहे वह निर्धन हों या धनवान्, दुर्बल हों या बलवान्, मूर्ख हों या विद्वान्, पृथ्वी पर किसी अन्य जाति के मनुष्यों को अपने से बड़ा नहीं मानते और इस लिये चाहे वह कहीं हों, स्वदेश में हों या विदेश में, उनका सिर उन्नत और दृष्टि तेजस्वी रहती है। परतन्त्र देशों के मनुष्यों की यह अवस्था हो ही नहीं सकती। वह चाहे कितने ही बड़े हों, परतन्त्रता का बोझ उनके सिर को नीचा ही रक्खेगा। वह कभी अन्य जाति के लोगों से बराबरी के साथ आँख नहीं मिला सकते।

अस्तु, इसी कारण दो एक और भी हानियां हो सकती हैं। उनके बाह्य सम्बन्ध सब ब्रिटिश गवर्नमेंट के हाथ में हैं। जब जिसके साथ वह जैसा सम्बन्ध रक्खेगी इनको भी उसके साथ वैसा ही सम्बध रखना पड़ेगा। परन्तु सम्भव है कि किसी राष्ट्र को यह बात अभीष्ट न हो। मान लीजिए कि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने किसी यूरोपीय राष्ट्र से युद्ध ठान लिया। ऐसा करते समय वह सब देशी राष्ट्रों से सम्मति तो लेगी ही नहीं, पर सब राष्ट्रों को उस यूरोपीय राष्ट्र को अपना शत्रु मानना पड़ेगा, चाहे उनकी समझ में यह युद्ध उचित हो या अनुचित। यदि रियासतें स्वतन्त्र होतीं, तो जैसा उनको उचित प्रतीत होता करतीं।

रियासतों को इसी कारण जो तीसरी हानि हो सकती है उसका कथन पहिले ही आ चुका है। कई देशों में भारतीयों के साथ सद्व्यवहार नहीं किया जाता। सम्भव है कि

यदि यह राष्ट्र स्वतंत्र होते तो अपनी प्रजा के लिये इन देशों में सुव्यवस्था करा सकते क्योंकि तब इनका पर-राष्ट्रों के साथ बराबरी का बर्ताव होता। इस समय इनकी प्रजा के लिये भी वही सु-या कु-व्यवस्था है जो अन्य भारतीयों के लिये है।

इसके अतिरिक्त रियासतों की प्रजा को एक और कष्ट हो सकता है। इनके शासन में अभी प्रजा को नियमतः किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं है। इनके नरेश जो कुछ चाहें कर सकते हैं। ब्रिटिश गवर्नमेंट बोलती अवश्य है परन्तु उस समय जब कि कुशासन अतिमात्र हो जाय। यदि कोई नरेश ब्रिटिश रेज़िडेण्ट को प्रसन्न रख कर, या किसी अन्य रीति से, ब्रिटिश गवर्नमेंट की आंख में धूल डाल सके तो वह बहुत दिनों तक जो कुछ चाहे कर सकता है। पहिले समय में नरेशों को यह डर था कि कोई दूसरा नरेश आक्रमण कर देगा। सो ब्रिटिश रक्षा ने वह डर निवारण कर दिया है। दूसरा डर यह था कि प्रजा विद्रोह कर देगी। सो उस विद्रोह का दमन भी ब्रिटिश गवर्नमेंट करेगी ही। अतः अब प्रजा को प्रसन्न रखने की उतनी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि नरेशों की परिस्थिति अब प्रजा की प्रसन्नता पर नहीं, प्रत्युत ब्रिटिश गवर्नमेंट की प्रसन्नता पर है। इस लिये नरेशों का बल तो पहिले से बढ़ा हुआ है और प्रजा का घटा हुआ। यदि किसी नरेश के अत्याचारों से तङ्ग आकर प्रजा विद्रोह भी करे तो क्या होगा? विद्रोह का दमन, यदि स्वयं राजसेना न कर सकी तो, गवर्नमेंट की सेना करेगी। तत्पश्चात्, यद्यपि सुधार होगा पर उस नरेश के ही द्वारा, क्योंकि गवर्नमेंट उसकी प्रतिष्ठा रखना चाहेगी। ऐसा तो कदाचित् ही कभी होगा कि वह नरेश गद्दी से उतार दिया जाय। यह

अवस्था प्रजा के लिये सङ्कट–जनक है। यदि कोई अत्याचारी नरेश हो तो प्रजा को बहुत कुछ दुःख दे सकता है, क्योंकि प्रजा विद्रोह करके भी पूर्ण सुधार की आशा नहीं कर सकती।

अब इस प्रश्न पर हम ब्रिटिश भारत की जनता की दृष्टि से विचार करते हैं। इस जनता को भी इनसे दो तीन बातों में हानि पहुंचती है। कई रियासतें ऐसी भी हैं जो आधुनिक दृष्टि से अपने शासन–क्रम में बहुत पीछे हैं। कइयों में नरेशों के स्वेच्छाचारी होने से शासन के कार्य्य में व्यतिक्रम पड़ता है। ऐसे अवसर पर कुछ लोग यह कह दिया करते हैं कि भारतीय स्वराज्य के योग्य नहीं है, क्योंकि जहां उनको स्वराज्य प्राप्त है वहां भी वे योग्यता के साथ उसे निबाह नहीं सकते।

कई देशी नरेश ऐसे हैं जिनको अंग्रेज़ी का ज्ञान कम है और जिनको विषयपरता आदि कारणों से काल की प्रगति से पूर्ण अनभिज्ञता है। कभी २ न जाने क्यों ये नींद से चौंक पड़ते हैं और ब्रिटिश भारत के राजनैतिक प्रश्नों पर कुछ बोल देने की कृपा करते हैं। गवर्नमेंट तो इनकी प्रतिष्ठा करती ही है, और लोगों में भी इनका नाम बहुत है। बस फिर क्या, जहां किसी राजा ने स्वराज्य आदि के विरुद्ध कुछ कह दिया कि एक धूम मच जाती है। अंग्रेज़ी अख़बार तो यहां से विलायत तक एक कर देते हैं, पर मेरा विश्वास है कि यदि उनसे सच २ पूछा जाय तो बिचारे व्याख्यान देने वाले महाराजा साहब को इस बात का भी ठीक २ पता न होगा कि मैंने किस विषय पर क्या कहा। बस कुछ दो चार स्वार्थी मनुष्य, जिनका इनके ऊपर प्रभाव पड़ता है, इन भोले भाले जीवों को यह सुझा देते हैं कि आपके ऐसा कह देने से

ब्रिटिश गवर्नमेंट आपकी कृतज्ञ होगी और यह उनके चक्कर में आकर व्यर्थ अपनी हँसी कराते हैं और साथ ही, अपने नाम और पद के भार से, अपने देश-वासियों की हानि करते हैं।

यह साधारण बात नहीं है। देशी नरेश ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध में जो कुछ चाहें कह सकते हैं और उनके कथन का कुछ न कुछ प्रभाव भी पड़ता है, पर अभी तक ब्रिटिश भारत की जनता देशी राष्ट्रों के भीतरी प्रबन्ध के विषय में प्रायः चुप रही है।

अब इस प्रश्न पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की दृष्टि से विचार कीजिए। इनके अस्तित्व से एक हानि तो यह कही जा सकती है कि भारत का जो भाग इनके अधि-कार में है उससे ब्रिटिश गवर्नमेन्ट पूरा लाभ नहीं उठा सकती। कई रियासतें, जैसे मालवा के राज्य, बड़ी ही उर्वरा भूमि रखते हैं। मैसूर के जङ्गल और सोने की खानें बहुत ही धनप्रद हैं। इस लिये जितनी आय रियासतों की होती है वह मानों गवर्नमेन्ट की आय में कमी होती है। फिर इन की रक्षा का भार भी गवर्नमेन्ट को लेना पड़ता है। इनके आपस के झगड़े भी उसको ही निबटाने पड़ते हैं। यदि इनके यहाँ कोई बड़ा विद्रोह हो जाय तो उसके दमन का भार भी गवर्नमेन्ट पर ही है। यदि कोई नरेश अत्या-चारी हुआ तो भी गवर्नमेन्ट की ही अकीर्ति होती है; क्योंकि सब के ही चित्त में यही आता है कि यदि उसे गवर्नमेन्ट की रक्षा और सहायता का भरोसा न होता तो ऐसा न कर सकता। यदि गवर्नमेन्ट किसी नरेश को गद्दी से उतारती है

तो उसके अनुयाइयों को अपना शत्रु बनाती है और अन्य नरेशों को भी अगत्या कुछ न कुछ सशङ्क करती है।

इसके अतिरिक्त किसी देश में इतने नरेशों का होना सामान्य बात नहीं है। इनकी संख्या अधिक है। इनके राज्य अंगरेज़ी राज्य के बीच २ में गुथे हुए हैं। इनके पास धन है, अधिकार है, प्रभाव है, सेना है, शस्त्र है। रियासतों की तोपों का कथन करते हुए एक अनुभवी लेखक कहते हैं कि यद्यपि वे, बहुत उत्तम नहीं हैं पर 'they are capable of doing much mischief' बहुत कुछ उत्पात कर सकती हैं। इन सब कारणों से ये राष्ट्र प्रबल मित्र हैं पर शङ्कनीय शत्रु भी हो सकते हैं। यही सब सोच कर गवर्नमेन्ट को स्वरक्षा के लिये विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है कि यदि दैवात् अ-शान्ति हो ही जाय तो वह विशेष क्षति न कर सके। प्रत्येक बड़े राज्य में एक छावनी रखनी पड़ती है। इसी प्रकार जहां कई राष्ट्र होते हैं उनके बीच में किसी मध्य स्थान में एक छावनी रहती है। इन बातों में रुपया अधिक व्यय होता है और गवर्नमेंट का काम भी बहुत बढ़ जाता है।

चौथी दृष्टि पर-राष्ट्रों की जनता की है। लाभ की भांति इनके सम्बन्ध में हानि का प्रश्न भी दुरुत्तर है। मेरी समझ में इनको इन राष्ट्रों से साधारणावस्था में किसी प्रकार की हानि नहीं होती। पर यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट से किसी पर-राष्ट्र से युद्ध छिड़ जाय तो उसको इनसे हानि हो सकती है। इस वर्तमान युद्ध में ही देशी राष्ट्रों की मैत्री ने ब्रिटिश गवर्नमेंट की शक्ति को कहीं अधिक बढ़ा दी है और उस के शत्रुओं को कम क्षति नहीं पहुंचाई है।

ये तो प्रधान २ बातें हैं। इनके अतिरिक्त कई और ऐसी बातें हो सकती हैं जो व्यक्तितः बहुत महत्व की न हों पर जिनकी समष्टि का राजनैतिक जगत पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ सकता है।

प्रत्येक पदार्थ किसी अंश में लाभदायक और किसी न किसी अंश में हानिकारक होता है, पर पूर्वापर विचार करने से उस में या तो लाभदातृत्व या हानिकर्तृत्व की मात्रा अधिक पाई जाती है। इसी प्रकार हमने देशी राष्ट्रों से जो २ लाभ और जो२ हानियां होती और हो सकती हैं उन को पृथक २ देख लिया है। अब यह विचार करना है कि यह अधिकांश में लाभप्रद हैं या हानिकर।

राष्ट्रों की प्रजा को इनकी वर्तमान स्थिति में क्षति निःसन्देह है। पर वह लगभग उतनी ही है जितनी कि ब्रिटिश भारत के लोगों को है। ज्यों २ देशी नरेश सुशिक्षित होते जायंगे, त्यों २ उनकी प्रजा के असन्तोष के कारणों का भी अभाव होता जायगा। पर जब तक भारतमात्र की परिस्थिति में कोई प्रचण्ड और अनपेक्षित परिवर्तन न हो जाय तब तक मेरी समझ में, देशी राष्ट्रों की जनता को लाभ अधिक और हानि कम है।

ब्रिटिश भारत की जनता को भी इन से बहुत कम हानि पहुंचती है, और जो कुछ होती भी है उसकी अपेक्षा लाभ कहीं अधिक होता है। इतना ही नहीं, ज्यों २ राष्ट्रों में उन्नति होगी, ब्रिटिश भारत उन का और भी ऋणी होता जायगा।

ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को इन से इस समय किसी प्रकार की हानि नहीं है, किन्तु लाभ अपरिमित है । यह सम्भव है कि कभी हानि पहुंच जाय पर उसका प्रबन्ध पहिले से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ज्यों २ ब्रिटिश गवर्नमेंट और रियासतों में हितमान्य और मैत्री बढ़ती जायगी, हानि की सम्भावना घटती जायगी।

रहे पर-राष्ट्र, सो उनको न इनसे विशेष लाभ है न हानि, अतः उनको इस सम्बन्ध में उदासीन मानना चाहिए।

इन सब बातों पर विचार कर के सोचने से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस जिस को इन राष्ट्रों की वर्तमान परिस्थिति और निरन्तर अस्तित्व से हानि होती है या हो सकती है उन लोगों को ये कहीं अधिक लाभ पहुंचाते रहते हैं, और, यदि कोई आवश्यकता आ पड़े तो, पहुंचा सकते हैं। अतः हमारा निर्णय यह है कि यद्यपि, अन्य मानव संस्थाओं की भांति, इन से भी हानि पहुंचती है, पर ये प्रायः सब के ही लिये और सभी दृष्टियों से अधिकतर लाभदायक ही हैं।

१२-देशी राष्ट्रों का भविष्य।

यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है, पर इस पर सर्वाङ्ग विचार करना सरल कार्य्य नहीं है। इसमे सन्देह नहीं कि किसी संस्था के भूत और वर्तमान की परीक्षा करने से हम को उसकी प्रगति के मूल सूत्रों का पता लग जाता है और हम उसके भविष्य को भी थोड़ा बहुत समझ सकते हैं।

पर चैतन्य पदार्थ, विशेषतः मनुष्य, जड़ पदार्थों की भाँति नियम-बद्ध होकर काम नहीं करते। मनुष्य के भीतर सहस्रों प्रसुप्त भावों, वासनाओं और शक्तियों का भण्डार है। यह कोई नहीं कह सकता कि किस समय कौन सा भाव, कौन सी वासना, औरों को अभिभूत कर लेगी और मनुष्य अपनी कौन सी शक्ति से काम लेगा। यह तो एक मनुष्य की बात हुई। पृथ्वी पर इसी प्रकार के अनुद्भूत भावादि-सम्पन्न करोड़ों मनुष्य हैं और यह कहा नहीं जा सकता कि कब किस के हृदय में किस भाव की जाग्रति होगी, कब किस की कौन सी शक्ति व्यक्त होगी। अतः मनुष्य समाज के किसी अंश के सम्बन्ध में भविष्यद्वक्तृता करनी धृष्टता मात्र है। सम्भव है कि इसी समय कुछ ऐसी शक्तियां काम कर रही हों जो हमारी सारी गणना को उलट दें।

पर पुस्तक-समाप्ति के लिये इस प्रश्न को उठाना भी आवश्यक है। अतः हम इस कल्पना के आधार पर चलते हैं कि जिन शक्तियों को हम इस समय उदार रूप से देखते हैं उनके अतिरिक्त कोई और शक्तियां नहीं हैं। अर्थात् हमारी राजनैतिक अवस्था में जिस प्रकार परिवर्तन हो रहा है क्रमशः उसी प्रकार होता जायगा। यदि कोई ऐसी दशा उपस्थित हो जाय, जो अभी तक अपेक्षित नहीं है, तो हमारा सारा कथन निःसार हो जायगा।

इस सम्बन्ध में हम को तीन बातों पर विचार करना होगाः—

(१) देशी राष्ट्रों का ब्रिटिश साम्राज्य में स्थान।

(२) देशी राष्ट्रों का ब्रिटिश भारत से सम्बन्ध।

(३) देशी राष्ट्रों की शासन-पद्धति ।

अब हम इनमें से एक २ को पृथक २ लेते हैं ।

(१) देशी राष्ट्रों का ब्रिटिश साम्राज्य में स्थान ।

यह स्थान अभी तक ठीक २ निश्चित नहीं है । इसका निर्णय करने के पहिले हम को यह देखना चाहिए कि इनका ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ सम्बन्ध कैसा है ? दो राजनैतिक संस्थाओं का एक दूसरे के साथ या तो नियमित (Constitutional) सम्बन्ध होता है या अन्तर्जातीय (international)। अब हम को यहां पर यह विचार करना है कि राष्ट्रों का ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ जो कुछ सम्बन्ध है वह किस कोटि में है ।

यह हम द्वितीय अध्याय में ही दिखला चुके हैं कि 'अन्तर्जातीय नियम'की दृष्टि में ये रियासतें राष्ट्र हैं ही नहीं, क्योंकि इनको युद्ध और सन्धि करने का अधिकार एक मात्र नहीं है । पर-राष्ट्रों के साथ इनका कोई स्वतंत्र व्यवहार ही नहीं है । यहां तक कि यदि किसी राष्ट्र में किसी पर-राष्ट्र का व्यापारी प्रतिनिधि (Consul) रहता है तो उसकी नियुक्ति भी ब्रिटिश गवर्नमेंट के ही द्वारा होती है । अन्तर्जातीय नियम के अन्तर्गत जो राष्ट्र हैं उनमें पर-राष्ट्र विषयक कुछ स्वातंत्र्य होना चाहिए । इस प्रकार के सभी राष्ट्र,चाहे वे छोटे हों या बड़े, एक दूसरे के बराबर माने जाते हैं।'वलय नाति, के समय भारत के राष्ट्र अन्तर्जातीय नियम के भीतर थे। आश्रित पार्थक्य के समय तक भी इनमें कुछ २ स्वाधीनता थी और इस लिये ये एक अंश में उस नियम के भीतर कहे जा सकते

थे। पर अब इनके स्वातंत्र्य के पूर्णाभाव के साथ२ इनका उस नियम से भी नाता टूट गया है।

यदि इन रियासतों का ब्रिटिश गवर्नमेंट के साथ अन्तर्जातीय सम्बन्ध हो, तो ये एक प्रकार से उसके बराबर मानी जायँ। अन्तर्जातीय नियम यह नहीं कहता कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का आश्रित नहीं हो सकता। परन्तु उस समय इस प्रकार की अनिश्चित अवस्था नहीं रहती। अब ब्रिटिश गवर्नमेंट को अधिकार है कि यदि रियासतों के प्रबन्ध में उसे कहीं कोई बात अनुचित प्रतीत हो तो उस के सुधार का प्रयत्न करे; उस अवस्था में वह केवल उन्हीं बातों में बोल सकती जो सन्धि से स्पष्टतया निश्चित हो जातीं। यदि कोई देशी नरेश उस की सम्मति न मानता तो, या तो वह चुप रह जाती या युद्ध करती और यदि उसकी जीत होती तो उसको यह अधिकार होता कि राष्ट्र के अस्तित्व का ही नाश करके उस भूभाग को अपने राज्य में मिला ले। पर अब ऐसा नहीं होता। बिना युद्ध के ही, गवर्नमेंट जिस नरेश को चाहती है गद्दी से उतार देती है, पर राष्ट्र की सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है।

इन्हीं बातों को देख कर अधिकांश अंग्रेज़ लेखक ने यह बात स्पष्टतया कह दी है कि इन का सम्बन्ध अन्तर्जातीय नहीं है। भारत गवर्नमेंट ने भी २१ अगस्त १८९१ के सर्कारी गज़ट (नं १७०० ई) में घोषित किया है—"The principles of international law have no bearing upon the relations between the Government of India as representing the Queen-Empress on the one hand, and the native states under the suze-

reinty of Her majesty on the other. The paramont supremacy of the former presupposes & implies the subordination of the latter" अर्थात्, "समाज्ञी (महाराणी विक्टोरिया उस समय जीती थीं) की प्रतिनिधि भारतीय गवर्नमेंट और समृाज्य के आधिपत्य में स्थित देशी राष्ट्रों में जो सम्बन्ध हैं उनमें अन्तर्जातीय नियम के सिद्धान्तों का कुछ भी समावेश नहीं है। देशी राष्ट्रों का आश्रितत्व भारतीय गवर्नमेंट के असपत्न श्रेष्ठत्व में ही गर्भित है"।

इस का सारांश यह निकला कि जब रियासतें भारतीय गवर्नमेंट की आश्रित हैं तब उनका जीवन अन्तर्जातीय नहीं है। अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में वे बृटिश साम्राज्य के वैसे ही टुकड़े हैं जैसे इंग्लैण्ड या कनाडा या स्वयं बृटिश भारत।

अब यदि इनका सम्बन्ध अंतर्जातीय नहीं है, तो स्यात् नियमित हो। नियमित सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—एक जागीरदारों का और दूसरा कर्म्मचारियों का। पहिले यह प्रथा थी कि जब कोई व्यक्ति राष्ट्र की बहुत योग्यता से सेवा करता था तब उसे कुछ भूमि प्रदान की जाती थी। जैसी जिस की सेवा होती थी, वैसी उसको भूमि मिलती थी। कई जागीरें लाखों रुपये साल के आय की होती थीं। इन जागिरदारों के पृथक २ अधिकार होते थे। बड़े जागीरदार तो एक प्रकार के नरेश से ही होते थे। उनका कर्तव्य था कि अपने जागीर में शान्ति रक्खें और, समय पर, अपने स्वामी को सहायता दें। अब भी राजपूत रियासतों में ऐसी जागीरें बहुत हैं। जब एक राष्ट्र दूसरे को लड़ कर जीत लेता है तब वह पहिले के जागीरदारों को, यदि उन्होंने उस

का विशेष विरोध न किया हो तो, उन्हीं शर्तों पर अपनी २ जागीरें रखने देता है। परन्तु, स्वामी को यह सदैव अधिकार है कि यदि वह असन्तुष्ट हो तो जागीर को ज़ब्त कर ले।

कर्म्मचारियों की बात तो स्पष्ट ही है। प्रत्येक गवर्नमेंट अपने यहां कर्म्मचारी नियुक्त करती है। पर यदि वह असन्तुष्ट हो तो छोटे से छोटे चपरासी से लेकर बड़े से बड़े क्षत्रप या अमात्य को पदच्युत कर सकती है या अन्य दण्ड दे सकती है। जागीरदार का तो अपनी जागीर पर कुछ स्वत्व होता भी है पर कर्म्मचारी का अपने स्थान या पद पर किसी प्रकार का स्वत्व नहीं होता।

कुछ लेखकों का यह कहना है कि देशी राष्ट्रों का ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से इन दोनों में से एक प्रकार का सम्बन्ध है। या तो ये उसके जागीरदार के सदृश हैं–सनद वाली रियासतों को उसने आप ही जागीरें दे रक्खी हैं और अन्य रियासतों की जागीरें पहिले से चली आती हैं;–या उसके कर्म्मचारी हैं–अन्तर केवल इतना ही है कि इन देशी नरेशों का पद पैतृक है, अर्थात् पिता के मरने पर पुत्र को ही मिलता है, अन्य व्यक्ति को नहीं।

इस में सन्देह नहीं कि राष्ट्रों की परिस्थिति कुछ ऐसी है कि उनकी जागीरदारों और कर्म्मचारियों से बहुत कुछ समता है पर यदि विचार करके देखा जाय तो ये इन दोनों में से किसी कोटि में भी नहीं रक्खे जा सकते।

यदि ये जागीरदार होते तो इनका सिक्का पृथक न होता। इन में से बड़े से बड़े राष्ट्रों के निर्णयों की भी अपील

बृटिश गवर्नमेंट के यहां जाती और गवर्नमेंट जब चाहती जागीर अर्थात् रियासत, को ज़ब्त कर लेती। कर्म्मचारियों का कोई पृथक राज्य नहीं होता। बड़े से बड़े प्रान्त का भी राज्य के अन्य प्रान्तों के साथ ही उल्लेख होता है। पर बृटिश गवर्नमेण्ट ने सन्धिपत्रों में कई नरेशों को 'ally' 'मित्र' कह कर पुकारा है और देशी नरेश अपने २ राज्य के 'absolute Sovereign' असपत्न स्वामी कहे गए हैं। ये शब्द जागीरदारों के लिये नहीं आ सकते। इसके अतिरिक्त, इनके राज्यों का अंग्रेज़ी राज्य से पृथक कथन किया जाता है। १८८९ में 'भारत' (India) की की परिभाषा अंगेज़ी पार्लामेण्ट ने इस प्रकार की थी—
"British India together with the territories of any Native Prince or Chief under the suzerainty of Her Majesty etc:" अर्थात् "बृटिश भारत और उसके साथ सम्राज्ञी के आधिपत्य समस्त देशी नरेशों और सर्दारों के राज्य।" १८८६ के एक क़ानून में ये शब्द आए हैं "The dominions of princes & States in alliance with Her Majesty." अर्थात् "सम्राज्ञी के साथ मैत्री रखने वाले नरेशों और राष्ट्रों की अधिकार-भूमि।" यदि ये नरेश बृटिश गवर्नमेंट के पैत्रिक कर्म्मचारी होते तो इनके राज्यों का इस प्रकार पृथक उल्लेख न किया जाता। अतः रियासतों का बृटिश गवर्नमेंट के साथ सम्बन्ध किसी भी दृष्टि से नियमित नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध को नियमित मानने में राष्ट्रों के लिये बड़ी आपत्ति है। इस का अर्थ यह हो जायगा कि बृटिश गवर्नमेंट ने प्रसन्न हो कर इनको अपने निज के राज्य के एक २ टुकड़े सौंप दिए हैं। उन टुकड़ों के

शासनार्थ किसी को कम और किसी को अधिक अधिकार दिया गया है, परन्तु अधिकार का भण्डार गवर्नमेंट ही है। नरेशों को कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं है। यदि गवर्नमेन्ट चाहे तो वह न केवल किसी नरेश विशेष से अधिकार छीन सकती है प्रत्युत राष्ट्र तक को ज़ब्त कर सकती है। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो राष्ट्रों और नरेशों की परिस्थिति अत्यन्त हीन हो जाय और उनके संधि पत्रों की वही अवस्था हो जो जर्म्मनी ने बेल्जियम के संधि-पत्र की बनादी— 'a scrap paper' 'कागज़ का एक टुकड़ा।' कोई राष्ट्र इस प्रकार की परिस्थिति से प्रसन्न और सन्तुष्ट नहीं हो सकता और हर्ष की बात है कि, ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भी इसका समर्थन किया है।

पर कठिनाई यह है कि इन का सम्बन्ध अन्तर्जातीय भी नहीं कहा जा सकता। इस लिये किसी २ ने इनके लिये नया शब्द 'अर्द्धान्तर्जातीय' 'Semi-international' निकाला है। किसी अन्य शब्द के अभाव में हम भी इसी का प्रयोग करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि इन की परिस्थिति इतनी उच्च नहीं है कि इन का सम्बन्ध 'अन्तर्जातीय' या पूर्ण बराबरी का कहा जा सके, पर इतनी गिरी हुई भी नहीं है कि उसको कर्म्मचारियों या जागीरदारों की भांति नियमित कह सकें। बहुत सी बातों में राष्ट्र ब्रिटिश गवर्नमेंट के आश्रित हैं, विशेष २ अवस्थाओं में गवर्नमेंट विशेष २ नरेशों को पदच्युत तक कर सकती है, परन्तु देशी राष्ट्र उस के निज के राज्य के टुकड़े नहीं, वह उनको ज़ब्त नहीं कर सकती और उसमें से अधिकांश को जो अधिकार हैं वह नैसर्गिक हैं, ब्रिटिश गवर्नमेंट के दिए हुए नहीं। इसी बात को

ध्यान में रखते हुए १६०२ में अंग्रेज़ी प्रिवी कौंसिल 'Privy Coubcil' ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था—"The least independent of such states is for some important purposes a foreign state" अर्थात, "इन राष्ट्रों में जो सब से कम स्वतंत्र राष्ट्र है वह भी कई महत्वपूर्ण अर्थों में, पर-राष्ट्र अर्थात ब्रिटिश राष्ट्र से भिन्न (उसका टुकड़ा) नहीं है।

राजनैतिक प्रश्नों में साधारण बातें भी बड़ी प्रभावशालिनी होती हैं। एक २ शब्द महत्व रखता है। कई सन्धि-पत्रों में बड़े रईसों के लिये 'ally' शब्द आया है। इसका अर्थ हुआ 'मित्र' और यह बराबर के राष्ट्रों में ही प्रयुक्त होता है। दूसरी ओर कई रियासतें प्रारम्भ से ही 'feudatory' मानी गई हैं। इसका कोई ठीक पर्य्याय तो नहीं है पर 'जागीरदार' शब्द से काम चल सकता है। अन्य राष्ट्रों की परिस्थिति इन्हीं दोनों के बीच में है, पर एक ओर तो सभी राष्ट्र जानतः व अजानतः इस प्रयत्न में रहते हैं कि उनकी गणना 'मित्रों' में हो, दूसरी ओर कई अंग्रेज़ लेखक सबको ही 'जागीरदारों' की कक्षा में गिराया चाहते हैं।

दूसरा शब्द 'नेटिव' (Native) है। 'नेटिव' का अर्थ हुआ देशी। यह शब्द अंग्रेज़ों के मुख से प्रायः भारतीयों का अपमान-व्यञ्जक होता है। इसी लिये ब्रिटिश भारत में इसके ऊपर बहुत कुछ आन्दोलन हुआ और अब इसके स्थान में प्रायः 'इण्डियन' 'Indian—भारतीय' शब्द लिखा जाता है। धीरे २ राष्ट्रों के लिये भी अब 'नेटिव' की जगह 'इण्डियन' शब्द का ही प्रयोग बढ़ रहा है।

'चीफ़' Chief शब्द का अर्थ हुआ सर्दार या रईस। यह शब्द कुछ बुरा नहीं है; पर इसका अफ्रिका आदि के

जङ्गली सर्दारों के लिये भी प्रयोग होता है। इसी से यह एक प्रकार से अपमान-सूचक हो गया है। यद्यपि बड़े नरेश प्रायः 'प्रिंस' कहलाते हैं पर 'चीफ़' कहलाना किसी को अच्छा नहीं लगता।

यह प्रिंस (Prince) शब्द भी बड़े महत्त्व का है। इसका अर्थ है राजकुमार। किसी समय में देशी राष्ट्रों के नरेशों के लिये (Kin.) किङ्ग-(बादशाह) शब्द तक प्रयुक्त होता था पर अब किसी के लिये 'प्रिंस' से बड़ा शब्द नहीं आता। प्रश्न यह होता है कि जब हमारे नरेश 'प्रिंस' हैं तो इनके लड़के क्या हुए? कई अंग्रेज़ लेखकों की सम्मति में उनके लिये 'प्रिंस' शब्द नहीं आ सकता। अभी तक किसी नरेश के लड़के के लिये उसका प्रयोग होता भी नहीं था, पर अब हवा कुछ पलटी सी प्रतीत होती है। कम से कम एक उदाहरण तो मुझे ज्ञात है। इन्दौर राज्य के युवराज 'प्रिंस यशवन्त राय' कहलाते हैं।

इसी सम्बन्ध में एक और शब्द विचारणीय है। हमारे नरेशों में से कई ऐसे हैं जिनके राजवंशों को कर्नल टाड "The oldest ruling houses in the world" 'पृथ्वी के प्राचीनतम राजवंश' मानते हैं, अतः यह निःसन्देह उन सब शब्दों के अधिकारी हैं जो नरेशों के लिये प्रयुक्त होते हैं। पर गवर्नमेंट और अंग्रेज़ लेखक इनके लिये राजकीय (Royal) शब्द का प्रयोग नहीं करते; जहाँ ऐसा अवसर आता है, वहां '*Princely*—राजकुमारोचित' शब्द ही लिखा जाता है।

'दर्बार' शब्द भी विचार करने योग्य है। साधारणतया इसका अर्थ है राज सभा, और मुसलमानी काल में

यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता था। अब भी बहुधा सर्वसाधारण में इसका यही अर्थ माना जाता है। पर राजपुताने में दर्बार का अर्थ है नरेश। 'उदयपुर दर्बार' कहने से 'उदयपूर नरेश' का बोध होगा। यह अर्थ राजपुताने के बाहर मध्य भारत के राजपूत राज्यों में भी है। परन्तु आजकल इस शब्द ने एक और अर्थ ग्रहण किया है। आज कल दर्बार का अर्थ हो गया है 'गवर्नमेंट'। प्रायः बृटिश गवर्नमेण्ट राष्ट्रों के शासनों के लिये दर्बार शब्द ही लिखा करती है। इस लिये 'गवर्नमेंट' शब्द प्रायः बृटिश गवर्नमेण्ट का ही वाचक रह गया है। पर अब कई बड़ी रियासतें इस शब्द का प्रयोग करने लगी हैं और निज़ाम गवर्नमेण्ट (यह स्यात् सब से पुराना नाम इस ढङ्ग का है), मैसूर गवर्नमेंट, इन्दौर गवर्नमेण्ट आदि का भी नाम सुन पड़ने लगा है।

इसी प्रकार बहुत लोगों का यह अनुमान है कि गवर्नमेंट यह नहीं चाहती कि राष्ट्रों के प्रधान मन्त्री 'प्राइम मिनिस्टर' (Prime minister) कहलाया करें. क्योंकि इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री की यह पदवी है। जो कुछ हो, यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि सिवाय हैदराबाद के और कहीं के प्रधान मन्त्री को इस उपाधि से पुकारे जाते सुना नहीं गया। बड़ी २ रियासतों में भी प्रधान मन्त्री को प्रायः चीफ़ मिनिस्टर 'Chief minister' कहते हैं।

इन शब्दों का विचार ऊपर यों ही नहीं किया गया है। इन से हमको इन राष्ट्रों के हाल, और इनकी परिस्थिति का बहुत कुछ पता चलता है। दर्बार' राजकुमार' नेटिव,

'चीफ़' आदि शब्दों में कोई दोष नहीं है-ये स्वतः पूर्णतः ठीक हैं और इनके प्रयुक्त होने के भी स्थान होते हैं; पर जिस प्रकार अंग्रेज़ लोग प्रायः इनका प्रयोग करते आये हैं उस प्रकार प्रयुक्त होने से ये राष्ट्रों की प्रतिष्ठा को कम करते हैं और इनमें से कुछ तो सर्वथा अनुचित प्रतीत होते हैं। साथ ही इसके, जैसा कि मैंने अभी ऊपर दिखलाया है, नरेशों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ है और वे स्वयं अब अपने लिए धीरे २ समुचित शब्दों का प्रयोग करने लगे हैं।

इसी सम्बन्ध में दो एक और विचारणीय बातें हैं। सभी राजतन्त्र देशों में यह एक सिद्धान्त है कि 'The King never dies' 'नरेश की कभी मृत्यु नहीं होती।' इस का तात्पर्य्य यह है कि गद्दी कभी सूनी नहीं रह सकती; अर्थात्, राज्य कभी राजहीन नहीं रह सकता। ज्योंहीं एक राजा मरता है उसका लड़का या अन्य निकटतम सम्बन्धी राजा हो जाता है। यह दूसरी बात है कि मृत राजा के शोक के कारण अभिषेक का संस्कार कुछ दिन ठहर कर किया जाय पर उसके राजा (या बादशाह आदि जो कुछ उस देश में उपाधि होती हो) होने में कोई सन्देह नहीं होता। यह सिद्धान्त प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशों में मान्य है और प्राचीन काल से इस का अनुकरण होता है। पर देशी राष्ट्रों के लिये थोड़े दिनों से एक नई बात हो गई है। एक नरेश के मरने पर उसके उत्तराधिकारी को जब ब्रिटिश गवर्नमेंट 'Recognissed अर्थात् स्वीकार' करे, तब वह नरेश हो। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक स्वीकृति न मिल जाय तब तक गद्दी सूनी रहे। जहां कहीं किसी कारण विशेष से झगड़े की आशङ्का हो, वहां तो नीति उपयोगिनी हो सकती है परन्तु अन्यत्र इस से एक बड़े राजनैतिक सिद्धान्त का खण्डन होता है।

इस 'स्वीकृति' की प्रथा ने एक और प्रथा की जड़ डाली है–"installation" या 'गद्दी पर बिठाना'। सनद वालों को छोड़ कर, अन्य देशी नरेश स्वतः नरेश हैं। उनके राज्य ब्रिटिश गवर्नमेंट के दियेहुये नहीं हैं प्रत्युत उनके पूर्व पुरुषों के परिश्रम से अर्जित किये हुए हैं। अतः वह अपनी गद्दियों के आप अधिकारी हैं। और किसी के बिठाने की अपेक्षा नहीं रखते। इस लिये जिस संस्कार से वह गद्दी पर बैठते हैं उसको 'installation, न कहकर Coronation (अभिषेक) कहना चाहिए। यह दूसरी बात है कि उस समय वाइसराय या एजेण्ट टू दी गवर्नर-जनरल या अंग्रेज़ी रेज़ीडेण्ट वहां पर अतिथिरूपेण उपस्थित रहे, पर रईस को उसके द्वारा गद्दी मिलना एक सर्वथा अनुचित प्रथा है और अप्रतिष्ठा-जननी है। देशी नरेश ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के आधीन हैं अतः इसमें कोई हानि नहीं है कि गवर्नमेंट का कोई प्रतिनिधि अभिषेक के समय उपस्थित हो–वह गवर्नमेंट की ओर से नये नरेश को बधाई देगा और गवर्नमेण्ट को नए नरेश के अभिषिक्त होने की सूचना देगा। बस इस से अधिक होना अनुचित है। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि अपने राज्य में सब से प्रधान पुरुष नरेश ही है, कोई अन्य व्यक्ति नहीं–ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का प्रतिनिधि भी, चाहे वह कितनी ही प्रतिष्ठा का पात्र हो, नरेश की प्रधानता का भाजन नहीं है।

कभी २ ऐसा होता है कि मरते समय कोई नरेश छोटा लड़का छोड़ जाता है जो इस योग्य नहीं होता कि पूरा काम सँभाल सके। उस समय प्रायः किसी को उप-राज (Regent) नियत कर दिया करते हैं। यह उपराज राज्य के कुछ प्रधान २

सर्दारों और कर्म्मचारियों की सम्मति से राज्य का काम करता है, और रेज़िडेण्ट काम पर निरीक्षण रखता है। कभी २ उपराज नियत नहीं किया जाता और रेज़ीडेण्ट ही एक प्रकार से उपराज होता है। इस से लाभ भी हो सकता है। रेज़िडेण्ट का प्रयत्न यही होगा कि शासन-क्रम अंग्रेज़ी ढङ्ग का हो और उसको बहुत कुछ सफलता भी होगी। इस से शासन में उन्नति भी हो सकती है। पर रेज़िडेण्ट विदेशी है। उसके प्रत्येक बात में हस्ताक्षेप करने से हानि भी हो सकती है। जो लोग उसके नीचे काम करते हैं उन में से अधिकांश यही चाहेंगे कि चाहे जैसे हो उस को प्रसन्न रक्खें। इस उद्देश से वे ऐसे भी काम कर डालेंगे जो राज्य के लिये वस्तुतः हानिकारक होंगे और इस लिये उन का प्रयत्न यह भी होगा कि जो कुछ हो सके कमा लें और जब नया नरेश अपना काम सँभाले तब धीरे से अपने २ घर का रास्ता लें। यह थोड़ा बहुत सभी जगह होता है, पर कभी २ यह दशा अतिमात्र हो जाती है। ऊपर डबल्यू० एस० ब्लण्ट का कथन आचुका है और उनकी पुस्तक 'आइडियाज़ अबाउट इण्डिया' से कुछ वाक्य भी उद्धृत किये जा चुके हैं। उसी में उन्होंने भूतपूर्व निज़ाम हैदराबाद के छोटेपन का एक भयानक चित्र खींचा है। मैं नहीं कह सकता कि उनके कथन कहां तक प्रामाणिक हैं। पर उनके वाक्यों से असत्य की झन-कार नहीं आती। वह लिखते हैं कि उस समय चुन २ कर दुष्ट और बेईमान मनुष्य नियत किए जाते थे। ये मनमानी लूट मचाते थे। इन का एकमात्र उद्देश्य यह होता था कि अंग्रेज़ अफ़सरों को सर्वप्रकारेण खुश रक्खें। इन अंग्रेज़ों से इन लोगों की दुष्टता छिपी न थी पर अपने लाभ के कारण वे चुप थे। अच्छे मनुष्यों को, जो राज्य के सच्चे हितैषी

थे, प्राण का भय था। इन सब लोगों, अंग्रेज़ों और भारतीयों, की इच्छा यह थी कि निज़ाम को अधिकार मिलने में जितनी ही देर हो उतना ही अच्छा है। किसी प्रकार इन बातों की सूचना तत्कालीन वाइसराय, लार्ड रिपन, के कानों तक पहुंच गई। जब वह इन बातों की जांच के लिये हैदराबाद आये तब झूठमूठ यह बात उड़ा दी गई कि यहां हैज़ा फैल रहा है !! पर लार्ड रिपन विवेकशील पुरुष थे। वह इन बातों से न डरे और निज़ाम को अधिकार सौंप कर ही लौटे।

ऐसी बातें सब जगह न होती होंगी पर इनके होने की सम्भावना सभी जगह है। इनके रोकने का उपाय यही है कि देशी राष्ट्रों के लिये वैसा ही प्रबन्ध किया जाय जैसा कि उनके स्थान और उनकी प्रतिष्ठा के कारण उचित है। वह ब्रिटिश राज्य के टुकड़े नहीं हैं, इस लिये इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि रेज़िडेण्ट उनके भीतरी प्रबन्ध में अपना पैर अड़ावे। राजवंश का ही कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति, जैसे छोटे राजा की माता, जिस के लिये राज्य के प्रधान सर्दार की भी सम्मति हो, उपराज होना चाहिए और सर्दारों और प्रधान २ कर्म्मचारियों की एक सभा बना देनी चाहिए। इनके हाथ में राज्य-शासन का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। निरीक्षण करने को रेज़िडेण्ट भले ही किया करे; निरीक्षण तो बूढ़े से बूढ़े नरेशों के काम का भी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट करती है, पर शासन जिस की रियासत है उसके ही हाथ में होना चाहिए।

जहां तक प्रतीत होता है नरेशों का ध्यान भी इन बातों की ओर आकर्षित हुआ है और वह भी इन बातों पर विचारने लगे हैं। ऐसा होना ही चाहिए। ब्रिटिश गवर्नमेंट और देशी

राष्ट्र एक दूसरे के सहकारी हैं-इसमें सन्देह नहीं; पर सहकारिता का यह अर्थ नहीं है कि एक सहकारी, जो छोटा हो, स्वतन्त्रतया कोई काम ही न कर सके। अपने घर का काम तो प्रत्येक को ही सँभालना चाहिए। रेज़िडेण्ट आदि की शक्ति भी आजकल अतिमात्र हो गई है। छोटी रियासतों की बात तो और है, पर बड़ी रियासतों में रेज़िडेण्ट वस्तुतः ब्रिटिश गवर्नमेंट का वकील या राजदूत है। रियासत और गवर्नमेण्ट से जो कुछ पत्र-व्यवहार आदि होते हैं वह उसके ही द्वारा होते हैं। पर आजकल बहुत जगह वह एक प्रकार से आधा राजा सा होता है। यह बात अयुक्त है। अभी थोड़े ही दिन हुए लण्डन में एक महत्व की सभा हुई है। इसका नाम 'सम्राजीय युद्ध गोष्टी' था। इसकी बैठक कई दिनों तक हुई। इस ने युद्ध और तत्पश्चाद्भावी सन्धि के विषय में विचार किया। इसमें केवल इङ्गलैंड का मन्त्रिमण्डल सम्मिलित न था प्रत्युत साम्राज्य के प्रायः सभी प्रधान भागों के प्रतिनिधि थे। भारत के भी एक प्रतिनिधि थे। पर उनमें और अन्य प्रतिनिधियों में एक अन्तर था। वह अपने २ देश की प्रजा के प्रतिनिधि कहे जा सकते थे, परन्तु भारत की ओर से इंगलैंड के भारत-सचिव, मिस्टर चेम्बरलेन, बैठाये गये थे। इनके तीन सहायक थे—एक तो बीकानेर नरेश, महाराजा गङ्गा सिंह; दूसरे संयुक्त प्रान्त के लफ्टिनेण्ट गवर्नर, सर जे० एस० मेस्टन; और तीसरे सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह। इन तीनों महाशयों का यह कार्य्य था कि मि० चेम्बरलेन को भारतीय जनता की इच्छाओं और विचारों से सूचित करें-सम्भवतः, मेस्टन साहब अंग्रेज़ी कर्मचारियों के दृष्टिकोण से

बोलने के लिये; बीकानेर नरेश, देशी नरेशों के दृष्टिकोण से, और सिंह महोदय, सुपठित भारतीयों के दृष्टि कोण से।

ये तीनों महाशय उक्त महासभा के सदस्य नहीं थे प्रत्युत उसके एक सदस्य, "अर्थात मिस्टर चेम्बरलेन, के सहायक थे। वहां इनका स्वागत बहुत उत्तम रीति से हुआ और उक्त सभा में इनके साथ प्रायः सदस्यों सा ही बर्ताव किया गया। यह सभा के अन्य सदस्यों की सज्जनता थी। यह बड़े गौरव की बात है कि भारत के दो प्रतिनिधि (यह शब्द वस्तुतः अयुक्त है) ऐसी सभा में सम्मिलित किये गये। पर यह सन्तोष गौण है। महाराज बीकानेर को लीजिए। वह एक देशी नरेश हैं। यद्यपि वह सम्राट् के आधीन हैं तथापि एक राज्य के स्वामी हैं, जिन नरेशों के प्रतिनिधि यह कहलाते थे वे भी अपने २ राज्य के स्वामी हैं और इनमें से अधिकांश संधिपत्रों के अनुसार सम्राट के मित्र हैं। ऐसी अवस्था में क्या ही अच्छा होता यदि यह देशी नरेशों द्वारा ही चुने जाते। कम से कम यह तो होना ही चाहिए था कि इनको उस सभा में स्वतंत्र स्थान मिलता। चाहे इनका जितना स्वागत किया गया हो, पर नियमतः यह मि० चेम्बरलेन के सहायक ही थे।

ये बातें व्यक्तितः बहुत महत्व नहीं रखतीं और कदाचित ध्यान देने योग्य भी नहीं हैं। पर समष्ट्या इनकी महत्ता बढ़ जाती है। इन पर विचार करने से हम को प्रतीत हो जाता है कि आज कल देशी राष्ट्रों का स्थान क्या हो रहा है। जैसा कि इनके सन्धिपत्र कहे देते हैं, एक समय इनमें से बहुतों का स्थान अत्युच्च था पर आज कल प्रायः सभी एक ही स्थान पर आते जाते हैं और यह स्थान कुछ बहुत ऊंचा

नहीं है; कम से कम वह उतना ऊंचा नहीं है, जितना कि उसे होना चाहिए।

बीच में इससे काम चल गया। बात यह थी कि सन्धि-कर्ता नरेशों के पीछे जो नरेश हुए उनमें से अधिकांश में उत्तरदायित्व का भाव न था। वह अपने सुख से सन्तुष्ट थे। ब्रिटिश गवर्नमेंट की दी हुई कोरी उपाधियों से ही वे अपने को धन्य मानते थे। हम लार्ड लिटन के ११ मई १८७७ के लार्ड सालसबरी के नाम पत्र का उल्लेख पहिले भी कर आये हैं। उसी में वह देशी नरेशों के विषय में लिखते हैं:— "We require their cordial & willing allegiance, on the other hand, we certainly cannot give them any increase of political power independent of our own. Fortunately for us, they are easily affected by sentiment and susceptible to the influence of symbols to which acts may inadequately correspond" इसका भावार्थ यह है—"हम को उनकी सच्ची और प्रसन्नता पूर्ण (राज-) भक्ति की आवश्यकता है पर हम उनके स्वतंत्र राजनैतिक बल की वृद्धि नहीं कर सकते। हमारे लिये यह सौभाग्य की बात है कि इन लोगों पर ऐसे चिन्हों का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है जिनके लक्ष्य अपर्य्याप्त होते हैं"। यह बात उदाहरण द्वारा भली भांति समझ में आ सकती है। जनरल या जी० सी० यस० आई की उपाधि या अधिक तोपों की सलामी प्रतिष्ठा-सूचक चिन्ह हैं पर इन से वस्तुतः क्या मिल जाता है? अधिकार या स्वातंत्र्य में तो कोई वृद्धि होती ही नहीं, फिर भी देशी नरेश इन से ही सन्तुष्ट रहते हैं।

पर अब वह दिन गये। आज कल के नये सुशिक्षित नरेश इन उपाधियों के साथ अधिकार भी चाहते हैं। जिस साम्राज्य की वृद्धि में उन्होंने सहायता दी है उसमें वह उच्च स्थान मांगते हैं और ब्रिटिश गवर्नमेंट के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि उन की बात मानी जाय। उनको उच्च स्थान देने से गवर्नमेंट को हर प्रकार का लाभ है। जितनी ही उनकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी उतना ही उनके अधिपति की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। जर्मनी के अन्तर्गत जो सेक्सनी आदि राज्य हैं उनके नरेश 'हिज़ मैजेस्टी' और 'किङ्ग' कहलाते हैं। इस से उनके अधिपति 'क़ैसर' की प्रतिष्ठा घटती नहीं वरन् बढ़ती है, क्योंकि क्षुद्रों की अपेक्षा बड़ों पर आधिपत्य करना ही गौरव-वर्द्धक है।

उनके स्थान की वृद्धि का उपाय यही है कि उनके ऊपर जो बहुत से बन्धन व्यर्थ डाल दिये गये हैं वे हटा दिये जांय। सेना आदि के प्रबन्ध में उनको अधिक स्वातंत्र्य दिया जाय और रेज़िडेण्ट आदि को जो अनुचित अधिकार दिये गये हैं वे ले लिये जांय। प्रत्येक बात में उनके साथ वैसा बर्ताव किया जाय जैसा कि मित्र-नरेशों के साथ होना चाहिए। बाह्य व्यापार सारा ब्रिटिश गवर्नमेंट के हाथ में है, इसमें सन्देह नहीं; पर उसका कर्त्तव्य है कि महद्विषयों में इन नरेशों की भी सम्मति लिया करे।

अब अविश्वास का समय नहीं रहा। कई अवसरों पर राज्यों ने ब्रिटिश गवर्नमेंट को यह दिखला दिया है कि उनको उसके साथ प्रीति है। अब यह उसका काम है कि उनके ऊपर विश्वास करके उनके इस प्रीति-भाव को और भी प्रबुद्ध करे। यदि उस ने ऐसा न किया तो यह सम्भव

है कि क्रमशः यह भाव, यदि अप्रीति नहीं तो कम से कम, औदासीन्य में पलट जाय।

फिर, ऐसा करना केवल औदार्य्य ही नहीं न्याय भी है। यदि रियासतें उच्च स्थान चाहती हैं तो वे कोई वस्तु नहीं मांगतीं, केवल उतना ही चाहती हैं जितने की वे अपने२ सन्धिपत्रों के अनुसार अधिकारिणी हैं। बीच में इन पत्रों के शब्दों की कुछ ऐसी व्याख्या हुई कि जिस से राष्ट्रों की स्वाधीनता बहुत कुछ जाती रही। जब एक बड़े और एक छोटे का संयोग होता है तो छोटे को बात २ में बड़े से दबना पड़ता है। पर न्याय कुछ और ही वस्तु है।

नीति भी न्याय के ही अनुकूल है। सम्भव है कि एक दिन इंग्लैण्ड को इस युद्ध से भी भारी सङ्कट का सामना पड़े। उस दिन उस को इन राष्ट्रों की सहायता की फिर आवश्यकता होगी और वह सहायता, प्रकृत्या, उतनी ही प्रबल होगी जितनी कि इन राष्ट्रों के साथ व्यवहार करने में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की उदारता और न्याय-परता की मात्रा होगी।

देशी राष्ट्रों का ब्रिटिश भारत से सम्बन्ध।

जैसे राष्ट्रों का ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ सम्बन्ध अनिश्चित है उसी प्रकार उनका ब्रिटिश भारत के साथ भी सम्बन्ध अनिश्चित है। एक के दूसरे के साथ अनेक सम्बन्ध हैं। राजनैतिक बातों को छोड़ कर, धार्म्मिक बातों ने दोनों को ऐसा मिला रक्खा है कि एक के बिना दूसरे का काम ही नहीं चल सकता। पुराणों ने निम्न-लिखित श्लोक में भारत के ७ प्रधान तीर्थस्थानों को गिनाया है:-

अयोध्या मथुरा माया, काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।

पुरी द्वारावती चैव, सप्तैता मोक्ष दायकाः ॥

इस में से अवन्तिका (उज्जैन) और द्वारावती (द्वारिका) ब्रिटिश भारत के बाहर हैं। इसी प्रकार श्रीनाथ-द्वारा, श्रीरङ्गपत्तन, अमरनाथ, गिरनार, धारा नगरी आदि पवित्र और प्राचीन स्थान रियासतों में पड़ गये हैं और प्रयाग, गया, बदरी, केदार, आदि ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत हो गये हैं। इन चतुर्दिक् फैले हुए तीर्थों ने प्राचीन काल से ही सारे भारत को एक कर रक्खा है और चाहे कहीं कैसा भी शासन हो भारत के सभी भागों की जनता को बहुत सी बातों में अभिन्न हृदय रखते हैं।

पर यहां हम को उस सम्बन्ध पर विचार करना है जिसको वर्तमान राजनैतिक अवस्था ने उत्पन्न कर दिया है। धार्म्मिक सम्बन्धों की भाँति यह स्थायी और एकरस नहीं प्रत्युत अनित्य और परिवर्तन-शील है, इसलिये इसका विश्लेषण और भी आवश्यक और कठिन है। ब्रिटिश भारत और राष्ट्रों के राजनैतिक सम्बन्धों की जड़ यह है कि दोनों ब्रिटिश गवर्नमेंट के आधीन हैं। सम्राट् के प्रतिनिधि वाइसराय हैं और ये दोनों के मान्य हैं। इसका प्रतिफल यह हुआ कि ब्रिटिश भारत और देशी राष्ट्रों की समष्टि भारतवर्ष के दो बराबर टुकड़े हुए। इन दोनों में से क्षेत्रफल, जन-संख्या, आर्थिक समृद्धि आदि सभी बातों में ब्रिटिश भारत बढ़ा हुआ है।

जब ये दो बराबर टुकड़े हैं तब इनमें से एक को दूसरे के घरेलू प्रबन्ध के विषय में बोलने का अधिकार नहीं है। मित्रभाव से परामर्श देना और आलोचना करना

और बात है पर अधिकारी बन कर कटाक्ष करना दूसरी ही बात है। पर यदि यह मान लिया जाय कि एक को दूसरे के घरैलू बातों में बाधा देने का अधिकार है तो यह अधिकार ब्रिटिश भारत की जनता को राष्ट्रों से अधिक है क्योंकि ब्रिटिश भारत राष्ट्रों से प्रायः सभी बातों में बढ़ा हुआ है।

प्रायः देशी नरेश ब्रिटिश भारत के भीतरी राजनैतिक विषय में चुप रहते हैं, पर कोई २ हमको अपनी सम्मति बतलाने की कृपा करते हैं। इनमें से बड़ौदा नरेश और अलवर नरेश ने विशेष नाम पाया है । बड़ौदा नरेश पहिले ही नरेश हैं जिन्होंने काङ्ग्रेस में पधारने का साहस किया और अलवर नरेश पहिले ही नरेश हैं जिन्होंने 'स्वराज्य' के समर्थन में व्याख्यान दिया। इन के नाम और उपकार को हम कभी नहीं भूल सकते । बीकानेर नरेश भी यथासम्भव ब्रिटिश भारत की जनता का ही पक्ष लेते हैं। पर न जाने क्यों कोई २ नरेश हमारे विपक्ष में भी खड़े हो जाते हैं। अभी थोड़े दिन हुए जब मिसेज़ बेसेण्ट के छुटकारे के लिये आन्दोलन हो रहा था तब कई प्रतिष्ठित व्यक्ति हमारे विरुद्ध हो गये थे। इन में से, यदि मैं भूलता नहीं हूं तो, एक उत्तरीय महाराजा साहब भी थे। एक अवसर पर आपने स्यात् यह भी कहा कि 'एक स्त्री को अपना नेता मानना हिन्दुओं के लिये अनुचित है'। यह मैं नहीं कह सकता कि यह सब उन्होंने किस शास्त्र के आधार पर कहा पर व्याख्यान देते समय वह कदाचित् यह बात भूल गये कि स्वर्गीया महाराणी विक्टोरिया, जिन को महाराजा साहब व समस्त भारत अपना राजनैतिक नेता मानता था, स्त्री ही थीं ! मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि महाराजा साहब हमारा बुरा चाहते हैं, पर हां, जैसा कि

एक उर्दू कवि ने कहा 'किसी की जान गई आप की अदा ठहरी'—ऐसी वक्तृताओं से हमारी हानि निःसन्देह सम्भव है।

अधिकांश समझदार देशी नरेश तो हमारे भीतरी झगड़ों के विषय में चुप ही रहते हैं। विरुद्ध बोलने की अपेक्षा यह नीति कहीं अच्छी है। पारसाल (१६१६) की चीफ्स कानफ़रेंस (नरेशों की सभा) में सब नरेशों की ओर से महाराजा गायकवाड़ ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि न हम यह चाहते हैं कि हमारे भीतरी प्रबन्ध में बाधा डाली जाय, न हम ब्रिटिश भारत के भीतरी प्रबंध में बाधा डालना चाहते हैं पर बहुत से ऐसे प्रश्न हैं जिनका राष्ट्रों से और ब्रिटिश भारत से बराबर सम्बन्ध है। इनके ऊपर विचार करने के लिये कुछ प्रबन्ध होना चाहिए। कुछ लोगों की यह सम्मति है कि जिस प्रकार प्रजा के प्रतिनिधियों की व्यवस्थापक सभा (Legislative council) होती है उसी प्रकार नरेशों की भी एक स्थायी सभा बन जाय यह इंग्लैंड के हाउस आव लार्ड्स के सदृश होगी। पर इस प्रस्ताव में दो दोष हैं। एक तो यह है कि यदि यह नरेशों की सभा ब्रिटिश भारत के राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करेगी तो असन्तोष फैलेगा। जब हम रियासतों के प्रबन्ध के ऊपर अधिकारतः विचार नहीं करते तब नरेश भी हमारे प्रबन्ध पर अधिकारतः विचार नहीं कर सकते। दूसरे, इङ्गलैण्ड के लार्ड्स केवल ज़मीन्दार हैं। हमारे नरेश वस्तुतः नरेश हैं और उनको अपने राज्य का शासन करना है। यदि कोई स्थायी सभा बन जाय तो या तो वह उसमें आ न सकेंगे या अपने राज्यों के शासन को चौपट करेंगे।

पर कोई न कोई युक्ति निकालनी ही पड़ेगी। अभी जब नवम्बर (१६१७) के प्रथम सप्ताह में दिल्ली में बहुत से नरेश एकत्र हुए थे तब उनमें से कई के व्याख्यानों से यह ध्वनि निकलती थी कि वे भी इस प्रकार का कुछ प्रबन्ध चाहते हैं। वाइसराय, लार्ड शेम्सफोर्ड, ने भी इस ओर इशारा किया था। इस के कुछ ही पहिले मैसूर की व्यवस्थापक सभा में वहां के दीवान, मः विश्वेश्वरय्या, इस विषय की चर्चा कर चुके थे। तात्पर्य्य यह है कि सब का ही ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया है।

पर प्रबन्ध हो ही क्या सकता है, यह देखना चाहिए। दिल्ली में नरेशों के इसी समागम के अवसर पर सर जेम्स मेस्टन ने भारत के राजनैतिक भविष्य के विषय में अपनी कल्पना बतलाई थी। मैं भी कुछ अंशों में उन से ही सहमत हूँ। यहां मैं भारत की भावी शासन-प्रणाली के विषय में अपनी सम्मति देता हूं। इस में बहुत सी त्रुटियां होंगी पर कम से कम बहुत से लोगों का ध्यान इस के द्वारा इस विषय की ओर खिंचेगा और सम्भव है कि तर्क प्रतितर्क करते २ कोई उत्तम पद्धति निकल आवे।

सब से पहिले इस बात की आवश्यकता है कि ब्रिटिश भारत के जितने प्रान्त हैं उन सब को अन्तः स्वातन्त्र्य मिल जाय। वह अपनी २ पुलिस, शिक्षा आदि का प्रबन्ध स्वयं कर सकें। उस समय उनकी परिस्थिति लगभग वैसी ही हो जायगी जैसी कि इस समय बड़े राष्ट्रों की है। उनके गवर्नर (क्षत्रप या सूबेदार) चाहे जसे नियुक्त हों, पर प्रान्त अपने भीतरी प्रबन्ध में स्वाधीन होंगे। वह अपनी आय को अपनी बुद्धि और आवश्यकतानुसार व्यय कर सकेंगे।

इन प्रान्तों के ऊपर एक महती सभा होनी चाहिए जो अन्तर्प्रान्तीय प्रश्नों पर विचार करे। कई ऐसे प्रश्न होंगे जिन पर प्रान्तों में आपस में मतभेद होगा; कई ऐसे काम होंगे जो कई प्रान्तों के द्वारा मिल कर किए जाने चाहिएँ। इन सब बातों का निर्णय यह सभा करेगी। इस सभा के पास रुपया कहाँ से आवेगा, उसके क्या क्या अधिकार होंगे और उसके सदस्य किस प्रकार चुने जायेंगे, इन प्रश्नों पर यहां सविस्तर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं यहाँ ब्रिटिश भारत के राजनैतिक प्रश्नों का विचार केवल प्रसङ्गतः कर रहा हूँ। इतना ही कहना अलम् है कि प्रत्येक प्रान्त के प्रधान और अनुभवी नीतिज्ञों में से इसके सदस्य चुने जाँयगे, इसके अधिकार प्रान्तीय शासनों द्वारा ही नियत होंगे और प्रत्येक प्रान्त को अपने आय का कुछ अंश इसके लिये अलग कर देना होगा।

अब राष्ट्रों को लीजिए। बड़े २ राष्ट्रों में तो अन्तः स्वातन्त्र्य है ही, छोटे २ राष्ट्रों को, जो इतने छोटे हैं कि स्वातंत्र्य के योग्य ही नहीं है, समूहों में विभक्त करना होगा। कई छोटे २ राज्यों का एक समूह होगा। आजकल ब्रिटिश गवर्नमेंट ने कई एजेंसियाँ बना रक्खी हैं। इन में से कुछ तो तोड़नी होंगी परन्तु कुछ हमारे समूहों की केन्द्र बनेंगी। इन समूहों में एक सभा होगी जिसमें उस समूह का प्रत्येक नरेश सदस्य होगा। यह नियत समयों पर बैठा करेगी और उसको वह सब अधिकार होंगे जो उसके अन्तर्गत छोटे २ राष्ट्रों को अलग २ नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि एक २ राष्ट्र-समूह ब्रिटिश भारत के एक २ प्रान्त के समान होगा।

राष्ट्रों के ऊपर भी एक महती सभा होनी चाहिए। इस में एक तो प्रत्येक बड़े राष्ट्र के नरेश को सदस्य होना चाहिए। बड़े राष्ट्र से मेरा तात्पर्य्य ऐसे राष्ट्र से है जिसके नरेश को आजकल गवर्नमेंट के यहां तोपों की सलामी मिलती हो। इनके अतिरिक्त इस सभा में उपर्युक्त समूहों के भी प्रतिनिधि होंगे। यह सभा उन प्रश्नों पर विचार करेगी जो समय २ पर इन राष्ट्रों में आपस में छिड़ जाया करेंगे। इसके कोष, अधिकार आदि का निर्णय भी सब राष्ट्र आपस में उसी प्रकार निश्चित कर लेंगे जिस प्रकार कि ब्रिटिश भारत के प्रान्त अपनी सभा का करेंगे।

इन दोनों महती सभाओं (एक तो ब्रिटिश भारत के प्रान्तों की, और दूसरी राष्ट्रों की) के ऊपर एक महत्तमा सभा होनी चाहिए। उसमें दोनों उक्त सभाओं के प्रतिनिधि हुआ करेंगे। इनकी संख्या आपस में विचार कर के निश्चित करनी होगी, पर मेरी समझ में प्रतिशत ६६ तो ब्रिटिश भारत से और ३३ राष्ट्रों से होने चाहिए। यह सभा उन प्रश्नों पर विचार करेगी जो विदेशों से सम्बन्ध रक्खेंगे या जिन पर प्रान्तों और राष्ट्रों में मत-भेद होने की सम्भावना होगी। दोनों महती सभाओं के निर्णयों की अपील भी इसके ही सामने हुआ करेगी।

वस्तुतः दोनों बीच की सभाओं के बिना भी काम चल सकता है, पर प्रारम्भ में इनका होना आवश्यक सा प्रतीत होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थल-सेना, जल-सेना, वायु-सेना, सिक्के बनाना, डाक, तार, आदि का सारा प्रबन्ध महत्तमा सभा के ही हाथ में होगा।

यह पद्धति देखने में तो बड़ी सरल प्रतीत होती है पर यदि विस्तृत विचार किया जाय तो इसके अनुकरण में अनेक कठिनाइयां और बाधाएँ पड़ेंगी। अनैक्य, हितवैषम्य, पदाभिमान सभी हमारा रास्ता रोक कर हमारे विरोधियों को सहायता प्रदान करेंगे।

अस्तु, यह तो राजनैतिक बातें हैं, और राजनैतिक प्रश्न धीरे २ ही सुलझते हैं। इनको छोड़ कर और बातों में देशी राष्ट्रों और बृटिश भारत में बहुत कुछ सहकारिता हो सकती है। हर्ष की बात है कि इसके लक्षण भी देख पड़ने लगे हैं। इसके कई उदाहरण हैं। ताता महोदय के नाम को कौन नहीं जानता। वह ४० लाख रुपया इस उद्देश से दे गए थे कि उस से एक औद्योगिक कालेज खोला जाय। वह रुपया गवर्नमेण्ट के पास जमा था, पर इतने बड़े कालेज के लिये उपयुक्त स्थान न मिलता था। अन्त में महाराजा साहब मैसूर ने उदारता पूर्वक अपने राज्य में ही स्थान दिया और वहां वह अब 'ताता रिसर्च इंस्टिटयूट' के नाम से स्थित है।

स्वर्गीय मः दादा भाई नौरोजी के स्मारक कोष में कई नरेशों ने उदार चन्दे दिये थे। कई नरेश क्षत्रिय महासभा आदि में सम्मिलत होते हैं। १६१६ में इन्दौर नरेश ने महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन को दस सहस्र रुपये प्रदान किए। सब से प्रधान उदाहरण हिन्दू विश्वविद्यालय का है। इसमें प्रथम श्रेय मिसेज़ बेसेण्ट और तदनु पण्डित मदनमोहन मालवीय और महाराजा दर्भङ्गा को है। परन्तु परिश्रम के साथ धन भी चाहिए और धन से भी अधिक आवश्यकता इस बात की थी कि देश में इसके साथ सक्रिय सहानुभूति फैल जाय। हर्ष की बात है कि बृटिश भारत की जनता के

साथ २ देशी नरेशों ने भी इसको पूर्णतया अपनाया। मैसूर, ग्वालियर, बीकानेर, अलवर, इन्दौर, जोधपूर, काश्मीर, काशी आदि के नरेशों ने इस संस्था को बड़ी ही सहायता की है और करते जाते हैं।

ये तो कुछ थोड़े से उदाहरण हैं, पर ऐसी २ अनेक बातें हैं जिनमें राष्ट्रों और बृटिश प्रान्तों की सहकारिता बिना काम चल ही नहीं सकता। धार्म्मिक, नैतिक, मानसिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में भारत के इन दोनों अंगों के मिल कर काम करने की आवश्यकता है। यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि यद्यपि ऊपर के उदाहरणों में केवल देशी नरेशों के ही नाम गिनाए हैं पर वस्तुतः उनकी प्रजा भी हमारे साथ सहकारिता दिखलाने में उनसे कम नहीं है।

देशी राष्ट्रों की शासन--पद्धति।

इन राष्ट्रों की वर्तमान शासन-पद्धति कहना अत्युक्ति मात्र है। प्रत्येक नरेश अपने राज्य का एक मात्र राजा है। राजा का अर्थ केवल महत्तम शासक ही नहीं प्रत्युत स्वामी है। उसे अधिकार है कि प्रजा से जो कर चाहे ले और इस रुपये को चाहे जैसे व्यय करे। वह जिसको चाहे अपनी आज्ञा मात्र से कारागार में डाल सकता है और जिसको जो पद चाहे दे सकता है। कई नरेशों ने अपने यहां व्यवस्थापक सभाएँ खोल दी हैं। इनमें नवीन नियम उपस्थित किए जाते हैं और इनके सदस्यों को प्रस्ताव करने का अधिकार रहता है। पर इनका होना न होना बराबर है। वस्तुतः प्रजा की इनके होने से कुछ भी अधिकार-वृद्धि नहीं होती। अभी तक किसी भी राष्ट्र ने अपने यहां स्वतंत्र प्रेस नहीं होने दिया है।

पर अब वह दिन गए। अब स्वेच्छाचारी नरेशों के दिन नहीं हैं। वर्तमान काल में पृथ्वी भर में रूस के ज़ार के बराबर प्रतापशाली स्वेच्छाचारी नरेश न था। जर्मनी के क़ैसर से भी उनकी स्वाधीनता बढ़ी हुई थी। पर देखते ही देखते उनका अधःपतन हो गया। अब यह गिरा हुआ घर फिर नहीं उठ सकता—अब भविष्य में ऐसा जल्दी नहीं होगा कि कोई नरेश पूर्णतया स्वच्छन्द हो। यह अवस्था सारी पृथ्वी के लिये है। इस समय ऐसा कोई बड़ा देश नहीं है जहां के नरेश को पूर्ण स्वच्छन्दता हो।

जो बात अन्य देशों में हो रही है वह यहां पर भी होकर ही रहेगी। अब वह समय नहीं है कि भारत पृथ्वी के अन्य देशों से पृथक रह सके। सब जगह एक ही हवा बह रही है। रेल, तार, समाचार पत्रों ने देशों के वैषम्य को कई अंशों में कम कर दिया है। अभी राष्ट्रों की जनता अधिक शिक्षित नहीं है पर शिक्षा केवल पुस्तकों से ही नहीं मिलती। निकटस्थ ब्रिटिश प्रान्तों की जनता के साथ समागम भी शिक्षा का एक बड़ा भारी द्वार है।

इन ब्रिटिश प्रान्तों में महान परिवर्तन हो रहे हैं। राजनैतिक अरुणोदय की झलक आने लगी है। जनता को अपने अधिकारों की स्मृति होने लगी है और उसने अपने शासकों से अपनी कुञ्जियां सँभालनी आरम्भ किया है। मार्ग लम्बा हो, कठिनाइयां अनेक हों, बाधाएँ पग २ पर हों—पर अब जनता की विजय-प्राप्ति अटल है; कोई ऐसी शक्ति ही नहीं है जो स्वराज्य हमको न मिलने दे। उस समय राष्ट्रीय प्रजा क्या कहेगी ? क्या उसकी जाग्रति न होगी ? जब वह अपने पड़ोस की ही ब्रिटिश प्रजा को अधिकार-युक्त देखेगी, तब

क्या वह वैसी ही मूक बैठी रहेगी ? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि मानव-स्वभाव सर्वत्र एक सा ही है। जिस दिन राष्ट्रों की प्रजा जग जायगी उस दिन राष्ट्र की शासन-पद्धति क्या होगी ? यह तो असम्भव है कि देशी नरेश प्रजा को दबा दें। ऐसा प्रयत्न करना भी उनके लिये सर्वथा हानिकारक होगा।

बुद्धिमानी इसी में है कि काल की प्रगति को देख कर देशी नरेश पहिले से ही समुचित प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दें। ऐसा करने से वह अपनी प्रजा के श्रद्धापात्र बनेंगे और उनके राज्य उन झगड़ों के क्षेत्र बनने से बच जायंगे जो राजा प्रजा के सम्बन्ध को कलुषित किया करते हैं।

मेरी समझ में राष्ट्रों की शासन-पद्धति का लक्ष्य होना चाहिए 'नियमित राज-सत्ता, (Constitutional monarchy)। इसका सब से उत्तम उदाहरण स्वयं इंग्लैण्ड है। इसके अनुसार एक २ राष्ट्रों में दो सभाएं होंगी। पहिली सभा में राज्य के जागीरदार व सर्दार होंगे। दूसरी में प्रजा की ओर से चुने हुए प्रतिनिधि होंगे। प्रत्येक नियम के लिए यह आवश्यक होगा कि पहिले वह इस प्रतिनिधि सभा द्वारा स्वीकृत हो, फिर सर्दार सभा से स्वीकृत हो और अन्त में नरेश द्वारा स्वीकृत हो। इन सभाओं के खुलते ही इन में स्वतः दो या अधिक दल बन जाँयगे। जब जिस दल के सदस्यों की संख्या अधिक होगी तब उस दल का ही नेता प्रधान मंत्री होगा और उसी दल के अन्य मुख्य २ पुरुषों में से अन्य मंत्रिगण चुने जायंगे। नियत समय पर ये सभाएं टूट जाया करेंगी और नये सदस्यों का चुनाव हुआ करेगा। यदि एक दल के मंत्रियों के कार्य्य से प्रजा असन्तुष्ट होगी

तो आप ही दूसरे दल का प्रभाव बढ़ेगा, पूर्व मन्त्रियों को अपना २ पद छोड़ना होगा और उनके स्थान पर नये मनुष्य नियत होंगे। बिना प्रजा की इच्छा के न तो कोई कर ही लग सकेगा और न व्यय ही हो सकेगा। सारांश यह है कि समस्त शासन नियम-बद्ध हो जायगा और उसका निरीक्षण प्रजा के हाथ में होगा।

यह एक दिग्दर्शन मात्र है। इंग्लैण्ड की शासन-पद्धति को विस्तृत रूप से जानने के लिये बड़ी पुस्तकें देखनी चाहिएं। उसमें भी इस युद्ध के अनुभव से भी कई परिवर्तन होने वाले हैं। वहां स्त्रियों को भी राजनैतिक अधिकार मिलने वाले हैं। पर ये सब ब्योरे की बातें हैं। इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि हम ज्यों की त्यों ब्रिटिश पद्धति की नक़ल करलें; ऐसा करना हानिकारक हो सकता है। हमको उस पद्धति के मूल मन्त्र से काम है—अर्थात्, शासन का अधिकार प्रजा के हाथ में होना चाहिए। यह बात धीरे २ निश्चित होती रहेगी कि प्रजा अपने अधिकार का उपयोग किन साधनों द्वारा करेगी।

यह पद्धति नरेशों के लिये भी अच्छी है। जो अच्छे नरेश हैं वह उस समय भी प्रजा का बहुत कुछ कल्याण कर सकेंगे—इंगलैण्ड के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं; पर जो बुरे हैं वह प्रजा का उतना अहित न कर सकेंगे जितना कि अब सम्भव है। नरेशों को उस समय भी कई बड़े अधिकार होंगे पर उनसे काम लेने में प्रायः प्रजा की इच्छा पर ध्यान रक्खा जायगा—अब सा अन्धेर न रहेगा कि एक मनुष्य अपनी अकेली बुद्धि और इच्छा के अनुसार एक देश के सुख दुःख को जैसा चाहे बना बिगाड़ दे।

सिंहावलोकन ।

हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में राष्ट्रों के भविष्य के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठाए थे और अभी तक हमने उन तीनों पर स्वतन्त्र दृष्ट्या विचार किया है। पर यह स्पष्ट है कि एक प्रश्न दूसरे से पृथक् नहीं है; प्रत्येक का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। अब यहां हम यह देखेंगे कि इनका समन्वय कहां होता है और तीनों पर एक साथ दृष्टि डालने से राष्ट्रों का क्या भविष्य समझ पड़ता है।

ऐसा करने के लिये हम पहिले नीचे से, अर्थात् तीसरे प्रश्न से ही चलते हैं। हम लिख आए हैं कि राष्ट्रों का लक्ष्य नियमित राजसत्ता है। जिस दिन यह उस लक्ष्य पर पहुंच जायँगे उस दिन इनकी परिस्थिति आज सी न रहेगी। इनमें नरेश होते हुए भी ये ब्रिटिश प्रान्तों के बहुत कुछ सदृश हो जायँगे। इनके सच्चे प्रतिनिधि इनके नरेश न होकर इनके, प्रजा द्वारा चुने गए, मन्त्री होंगे। इसमें नरेशों का कोई अपमान नहीं है। वह केवल तमाशे की भांति न होंगे प्रत्युत बहुत से आवश्यक कार्य्य ऐसे हैं जिनका उनके बिना चलना कठिन है। पर इस में सन्देह नहीं कि दर्बार आदि को छोड़ कर, अन्य अवसरों पर अपने राष्ट्र के प्रतिभू बनने का कष्ट उनको न उठाना पड़ेगा। प्रजा के प्रतिनिधि ही यह सब काम सँभाल लेंगे। ऐसी अवस्था में जो राष्ट्रों के ऊपर की महती सभा है उसमें भी राष्ट्र-प्रजा के प्रतिनिधि ही होंगे और जो समस्त भारत के लिये महत्तमा सभा है उसमें भी प्रजा के ही प्रतिनिधि होंगे।

इस में भी देशी नरेशों की कोई अप्रतिष्ठा नहीं है। यह सभा नरेशों की व्यक्तियों पर आज्ञा न चला कर राष्ट्रों

पर आज्ञा चलाएगी। नरेशों की व्यक्तियां तब भी उतनी ही आदरणीय रहेंगी जितनी कि अब हैं। ऐसा होने से कार्य्य में भी सुगमता हो जायगी। यदि महत्तमा सभा में कुछ नरेश और कुछ इतर लोग होते तो कई टेढ़े प्रश्न उपस्थित हो जाते। सभापति कौन हो? प्रधान मंत्री कौन हो? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर देते समय राजनैतिक योग्यता के साथ २ सामाजिक स्थान पर भी ध्यान देने की आवश्यकता पड़ जाती और इस से कार्य्य-सम्पादन में विघ्न पड़ता। पर जो अवस्था हमने बतलाई है उसमें ये सब विघ्न स्वतः तिरोहित हो जांयगे। सभा के सभी सदस्य एक ही सामाजिक स्थिति के होंगे—उनमें ऊंचे नीचे का कोई प्रश्न ही न होगा। उन सब का चुनाव भी एक ही प्रकार से हुआ होगा। चाहे वह किसी प्रान्त या राष्ट्र के रहने वाले हों, वह अपने यहां की जनता के सच्चे प्रतिनिधि होंगे और उसकी ओर से बोलने का अधिकार रखते होंगे। अतः उनमें पद बांटने में केवल राजनैतिक योग्यता, अनुभव और प्रभाव पर ही दृष्टि डाली जायगी और राजनैतिक आदि प्रश्नों पर वह जो कुछ निर्णय करेंगे वह सर्वमान्य होगा, क्योंकि इनका किया हुआ निर्णय वस्तुतः सारी प्रजा का ही निर्णय होगा। इस में सन्देह भी नहीं है कि इस सभा में अत्यन्त योग्य और अनुभवी नीतिज्ञ ही स्थान पा सकेंगे।

उस समय ब्रिटिश गवर्नमेन्ट और राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी महान परिवर्तन हो जायगा। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट को इतने एजेंटों, रेज़िडेण्टों और पोलिटिकल अफ़सरों की आवश्यकता न पड़ेगी। उस समय ब्रिटिश भारत और देशी राष्ट्र का भेद ही जाता रहेगा क्योंकि जो प्रान्त अब ब्रिटिश भारत

के अङ्ग हैं वे भी उस समय राष्ट्रों के ही सदृश होंगे। उनमें और दूसरों में अन्तर केवल इतना ही होगा कि पुराने राष्ट्र राजतंत्र होंगे और नये राष्ट्र प्रजातन्त्र। उस समय आन्तरिक भेदों के होते हुए भी सारा भारत एक होगा और न केवल ब्रिटिश गवर्नमेन्ट प्रत्युत सारे जगत को उस एक सत्ता से व्यवहार करना होगा, न कि उसके पृथक २ अङ्गों से।

यहाँ पर मैं इस पुस्तक को समाप्त करता हूं। इसमें यह दिखलाया गया है कि जिस समय कम्पनी भारत में आई उस समय देशी राष्ट्रों की क्या परिस्थिति थी और आज क्या है। उस समय और इस समय की दशा में भयानक अन्तर है, पर इस में कोई घबराने की बात नहीं है। किसी का दिन सदैव एक सा नहीं रहता। ईश्वर जो करता है हमारी भलाई के लिये ही करता है। जिस अनन्त बुद्धि ने प्राचीन समय की फ़िनीशियन, शैल्डियन, मिश्री, पारसी, ग्रीक आदि सभ्य जातियों के नष्ट होने पर भी हमको बचा रक्खा है वह अवश्य हमारी रक्षा करेगी। अपनी भूलों से भी हमको बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण करनी है और शेष के लिये, परमेश्वर आप हमारी सहायता करेगा।

हम भारत को पृथ्वी पर स्वर्गोपम देश मानते हैं। हमारे प्राचीन ग्रन्थ इसको देवदुर्लभ बतलाते हैं। यह ज्ञान-भूमि, धर्म्म-भूमि, कर्म्म-भूमि है। हम हिन्दुओं को तो इसके सिवाय कहीं ठिकाना ही नहीं है। अतः यह हमारा कर्तव्य है कि इसकी सर्वतः उन्नति के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न करें, परन्तु किसी एक अङ्ग की उन्नति से काम नहीं चलेगा। भारतीय प्रजा के सभी टुकड़ों—हिन्दू, मुसल्मान, पारसी, बौद्ध, जैन, ईसाई आदि—की उन्नति होनी चाहिए। और

यह उन्नति सर्वत्र—देशी राष्ट्रों में और उनके बाहर—होनी चाहिए।

अभी हमारे सामने बड़ा काम पड़ा हुआ है। ठहरने का अवकाश नहीं है। जब राष्ट्रों और तद्भिन्न प्रान्तों की सारी शक्तियां युक्त होंगी तभी यह कार्य्य पूरा होगा। हमारे मार्ग में बाधाएँ भी कुछ कम नहीं हैं। इनको निवारण करने के लिये अत्यन्त धैर्य्य और दृढ़ सङ्कल्प की आवश्यकता है, क्योंकि हमारी वर्षों की जड़ता ने इनको बहुत ही प्रबल और प्रोत्साहित बना दिया है। परन्तु हमारा उद्देश धर्म-मय है और 'यतो धर्म्मस्ततो जयः' हमको और कुछ नहीं चाहिए—हमको किसी से द्वेष नहीं है—हमारा लक्ष्य केवल इतना ही है कि हम अपने देश को फिर से उसके पूर्वगौरव पर पहुंचा दें। इस उद्देश की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि देशी राष्ट्रों के नरेश और उनकी प्रजा और तदितर प्रान्तों के नेता और उनके अनुगामी एकचित्त होकर काम करें। यदि ईश्वर के प्रसाद से ऐसा हो सका तो शीघ्र ही वह दिन आवेगा जब कि हम संसार के सामने फिर अपना मुंह दिखला सकेंगे और भारत का नाम सारी पृथ्वी पर आदर के साथ लिया जायगा। हमारी पृथकत्व बुद्धि ने ही हम को दुर्बल बना रक्खा है नहीं तो भारत के कल्याण के सारे साधन एकत्र और उपस्थित हैं; यदि हम एक बार मिल कर प्रयत्न करें तो इस पुण्य भूमि का अभ्युत्थान हमारे लिये हस्तामलकवत् सहज प्राप्त हो जाय।

परिशिष्ट ।

(१) सन्धिपत्र ।

हम पहिले कह आए हैं कि देशी राष्ट्रों के साथ ब्रिटिश नीति ने समयानुसार तीन रूप धारण किये थे। इन रूपों का अनुमान उन सन्धिपत्रों से हो सकता है जो तत्तत्संमय में राष्ट्रों और अंग्रेज़ों के बीच में लिखे गए। इसी लिये हम उदाहरणार्थ प्रत्येक नीति-काल का एक २ सन्धिपत्र नीचे देते हैं। पहिले वह सन्धि अंग्रेज़ी में अक्षरशः दी जायगी और फिर उस मूल का हिन्दी भावार्थ। भिन्न २ सन्धियों के शब्दों की तुलना करने से ब्रिटिश नीति और सन्धि करने वाले राष्ट्र की तत्कालीन परिस्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है।

(क) कम्पनी और होल्कर-१८०५ (बलयनीति)

[Treaty of Peace and Amity between the British Government and Jeswant Rao Holkar.]

Whereas disagreement has arisen between the British Government and Jeswant Rao Holkar, and it is now the desire of both parties to restore mutual harmony and concord, the following Articles of Agreement are therefore concluded beween Lt.—Colonel John Malcolm on the part of the Hon'ble Company and Sheikh Habeeb Oolla and Balla Ram Seit on the part of Jeswant Rao Holkar, the said Lt.—Colonel John Malcolm having Special authority for that purpose from the Rt. Hon'ble Lord Lake, Commander-in-chief etc. etc., His Lordship afore-said, being invested with full powers and authority from the Hon'ble Sir George Hilaro

Barlow, Governor-General, etc. etc., and the said Sheikh Habeeb Oolla and Balla Ram Seit also duly invested with full powers on the part of Jeswant Rao Holkar.

ARTICLE 1.

The British Government engages to abstain from the prosecution of hostilities against Jeswant Rao Holkar and to consider him hence forward as the friend of the Hon'ble Company, Jeswant Rao Holkar agreeing on his part to abstain from all measures and proceedings of an hostile nature against the British Government and its allies, and from all measures and proceedings in any manner directed to the injury of the British Government on its allies.

ARTICLE 2.

Jeswant Rao Holkar hereby renounces all right and title to the districts of Tonk, Rampoora, Boondee,, Lekheree, Sameydee, Bhamungaum, Dase, and other places north of the Boondee hills, and now in the occupation of the British Government.

ARTICLE 3.

The Hon'ble Company hereby engages to have no concern with the ancient possessions of the Holkar family in Mewar, Malwa, and Harrowtee or with any of the Rajas situated to the south of the Chambal; and the Hon'ble Company agrees to deliver over immediately to Jeswant Rao Holkar such of the ancient possessions of the Holkar family in the Deccan now in the possession of the Hon' ble Company, as are situated south of the river Taptie,

with the exception of the fort and pergunnah of Chanderee, the pergunnas of Ambar and Sensham, and the villages and pergunnas situated to the southward of the river Godavary, which will remain in possession of the Hon'ble Company. the Hon'ble Company, however, in consideraton of the respectability of the Holkar family, further engages that, in the event of the conduct of Jeswant Rao Holkar being such as to satisfy the state of his amicable and peaceable intentions towards the British Government and its allies, It will at the expiration of eighteen months from the date of this Treaty restore to the family of Holkar the fort of Chunderee and its districts, the pargunnahs of Ambar and sengham, and the districts formerly belonging to the Holkar family, situated to the south of the Godavary.

ARTICLE 4.

Jeswant Rao Holkar hereby renounces all claims to the district of Koonch in the province of Boondelcund and all claims of every description in that province; but in the event of the conduct of Jeswant Rao Holkar being such as to satisfy the British Government of his amicable intentions towards that State and its allies, the Hon'ble Company agrees at the expiration of two years from the date of this Treaty to give the district of Koonch in jagire to Beema Bai, the daughter of Jeswant Rao Holkar, to be holden under the Company's Government on the same terms as that now enjoyed by Balla Bai.

ARTICLE 5.

Jeswant Rao Holkar hereby renounces all claims of every description upon the British Government and its allies.

ARTICLE 6.

Jeswant Rao Holkar hereby engages never to entertain in his service Europeans of any description, whether British subjects or others, without the consent of the British Govt

ARTICLE 7.

Jeswant Rao Holkar hereby engages not to admit into his council or service Serjee Rao Ghantkea, as that individual has been proclaimed an enemy to the British Govt.

ARTICLE 8.

Upon the fore-going conditions Jeswant Rao Holkar shall be permitted to return to Hindostan without being molested by the British Government and the British Government will not interfere in any manner in the concerns of Jeswant Rao Holkar. It is, however, stipulated that Jeswant Rao Holkar shall, immediately, upon the Treaty being signed and ratified, proceed towards Hindostan, by a route which leaves the towns of Putteeala, Kythul, Jheend and the countries of the Hon'ble Company and the Rajah of Jeypore on the left; and Jeswant Rao Holkar engages on his route to make his troops abstain from plunder, and that they shall commit no act of hostility in any of the countries through which they may pass.

ARTICLE 9.

This Treaty, consisting of nine Articles, being this day settled by Lt. Colonel John Malcolm on the part of the Hon'ble Company and by Sheikh Hubeeb Oolla, Balla Ram Seit on the part of Jeswant Rao Holkar, Lt.-Colonel Malcolm has deliverd one

copy thereof, in Persian and English, signed and sealed by himself and confirmed by the seal & Signature of the Rt. Hon'ble Lord Lake, to the Sheikh Hubeeb Oolla & Balla Ram Seit, who, on their part, have delivered to Lt.-Colonel John Malcolm a counter part of the same, signed and sealed by themselves, and engage to deliver another copy thereof, duly ratified by Jaswunt Rao, Holkar, to the Rt. Hon'ble Lord Lake, in the space of three days, the said Lt.-Colonel John Malcolm also engaging to deliver to them a counter part of the same, duly ratified by the Hon'ble the Governor General in Council, within the space of one month from this date.

Done in Camp, at Rajpoor Ghaut, on the Banks of the Beas river, this 24th. day of December, A. D. 1805, corresponding with the 2nd. of shawal in the year of the Hegira, 1220.

(Sd.) John Malcolm.
" Sheikh Habeeb Oolla.
" Balla Ram Seit.

भावार्थ ।

[ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और यशवन्तराव होल्कर के बीच शान्ति और मैत्री की सन्धि]

क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट और यशवन्तराव होल्कर में अनबन होगई थी और अब दोनों दलों की यह इच्छा है कि आपस में फिर से मेल हो जाय, इस लिये निम्न-लिखित धाराएं कम्पनी की ओर से लफ्टिनेन्ट-कर्नल जान मैल्कम और यशवन्तराव होल्कर की ओर से शेख़ हबीबुल्ला और

बालाराम शेट के बीच निश्चित हुई हैं। इसके लिये लफ्टि-नेण्ट-कर्नल जान मैल्कम को प्रधान सेनाध्यक्ष राइट आनरेबल लार्ड लेक से, जिनको माननीय सर जान हिलेयरो बार्लो, गवर्नर-जनरल, ने पूर्ण अधिकार दे रक्खा है, विशेष अधि-कार प्राप्त हैं और शेख़ हबीबुल्ला और बालाराम शेट को यशवन्तराव होल्कर से पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं।

प्रथम धारा

ब्रिटिश गवर्नमेंट यशवन्तराव होल्कर के विरुद्ध लड़ाई बन्द करने और उनको अब से कम्पनी का मित्र मानने का वचन देती है; यशवन्तराव होल्कर भी यह वचन देते हैं कि वह अब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और उसके मित्रों के विरुद्ध लड़ाई बन्द कर देंगे और कोई ऐसा कार्य्य न करेंगे जिस से ब्रिटिश गवर्नमेंट और उसके मित्रों की हानि हो।

द्वितीय धारा।

यशवन्तराव होल्कर टोंक, रामपुरा, बूंदी, लखेरी, समेदी, भामनगांव, देस इत्यादि उन सब स्थानों पर, जो बूंदी के पहाड़ों के उत्तर हैं और इस समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के हाथ में है, अपना स्वत्व छोड़ते हैं।

तृतीय धारा।

कम्पनी इस बात का वचन देती है कि वह होल्कर वंश के राज्यांशों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खेगी जो मेवाड़, मालवा या हाड़ावती में हैं और न वह उन राजाओं से किसी प्रकार का सरोकार रक्खेगी जो चम्बल नदी के दक्षिण ओर हैं; कम्पनी यह भी

वचन देती है कि वह चन्देरी के क़िले और परगने, अम्बर और सिंहम के परगने और गोदावरी नदी के दक्षिण के गांव और परगनों को छोड़ कर होल्कर वंश के उन सब राज्यांशों को लौटा देगी जो ताप्ती नदी के दक्षिण हैं और इस समय कम्पनी के हाथ में आ गये हैं। परन्तु होल्कर वंश के गौरव पर ध्यान रखते हुए कम्पनी इस बात का भी वचन देती है कि यदि यशवन्तराव होल्कर का व्यवहार शान्ति-वर्द्धक रहा तो अठारह महीने के पीछे चन्देरी आदि भी लौटा दिये जावेंगे।

चतुर्थ धारा।

यशवन्तराव होल्कर बुन्देलखण्ड प्रान्त के कूंच ज़िले पर से अपना सारा स्वत्व परित्याग करते हैं और बुन्देलखण्ड मात्र पर से अपने सारे स्वत्व हटा लेते हैं। परन्तु यदि उनका व्यवहार सन्तोषजनक हुआ तो कम्पनी यह वचन देती है कि दो वर्ष बीतने पर उक्त कूच ज़िला यशवन्तराव होल्कर की लड़की भीमाबाई को उन्हीं शर्तों पर जागीर में दे दिया जायगा जिन शर्तों पर कि बालाबाई की जागीर है।

पञ्चम धारा।

यशवन्त राव होल्कर अपने उन सब हक़ों (रुपये आदि का—अ०) को छोड़ते हैं जो ब्रिटिश गवर्नमेंट या उसके मित्रों पर हों।

षष्ठ धारा ।

यशवन्तराव होल्कर यह वचन देते हैं कि बिना बृटिश गवर्नमेंट की स्वीकृति के किसी यूरोपियन को नौकर न रक्खेंगे, चाहे वह बृटिश प्रजा हो या न हो ।

सप्तम धारा ।

यशवन्त राव होल्कर यह वचन देते हैं कि वह सर्जी राव घाटकिया को अपने यहां नौकर न रक्खेंगे और न उनको अपनी सभा में रक्खेंगे क्योंकि उक्त व्यक्ति बृटिश गवर्नमेंट का शत्रु घोषित हो चुका है ।

अष्टम धारा ।

इन शर्तों पर यशवन्त राव होल्कर हिन्दुस्तान (वह उस समय पञ्जाब में थे-प्र०) लौट आने पावेंगे और बृटिश गवर्नमेण्ट उनके कामों में किसी प्रकार की बाधा न डालेगी । इस सन्धि पर हस्ताक्षर होने और इसके प्रामाणिक हो जाने पर, यशवन्तराव होल्कर तत्काल ही हिन्दुस्तान जायंगे पर वह ऐसे रास्ते से जायंगे जिस से कि पटियाला, झींद, कैथल के नगर और कम्पनी और राजा जयपूर के नगर उनके बाएं हाथ पड़ें । यशवन्त राव होल्कर को यह भी देखना होगा कि उनके सिपाही मार्ग में किसी प्रकार का दंगा या लूटमार न करें ।

नवम धारा ।

यह सन्धि जिसमें नौ धाराएँ हैं आज कम्पनी की ओर से ल-क जान मैल्कम और यशवन्त राव होल्कर की ओर से

शेख़ हबीबुल्ला और बालाराम शेट ने निश्चित की है। इसकी फ़ारसी और अंग्रेज़ी में एक नक़ल, जिस पर उनकी मुहर और हस्ताक्षर है और जो लार्ड लेक के हस्ताक्षर और मुहर द्वारा पुष्ट की गई है, ल-क मैल्कम ने शेख़ हबीबुल्ला और बालाराम शेट को दी है और उक्त शेख़ हबीबुल्ला और बालाराम शेट ने अपनी मुहर और हस्ताक्षर करके एक नक़ल ल-क जान मैल्कम को दी है। आज के तीन दिन के भीतर ये दोनों महाशय यशवन्त राव होल्कर के हस्ताक्षर और मुहर से प्रामाणिक कराके इसकी एक प्रति लार्ड लेक को देंगे और इसी प्रकार एक महीने के भीतर गवर्नर जनरल के हस्ताक्षर और मुहर से प्रामाणिक करा के एक प्रति ल-क जान मैल्कम इनको देंगे।

ब्यास नदी के किनारे राजपूर घाट की छावनी में लिखा गया, आज २४ दिसम्बर १८०५ इसवी तदनुसार २ शव्वाल १२२० हिज़्री।

(हस्ताक्षर) जान मैल्कम
,, शेख़ हबीबुल्ला
,, बालाराम शेट।

नोट—इसके कुछ ही दिनों पीछे, एक अन्य पत्र द्वारा इस सन्धिपत्र की द्वितीय धारा काट दी गई—अर्थात्, टोंक इत्यादि फिर यशवन्त राव होल्कर को मिल गए।

(ख) कम्पनी और ओर्छा—१८१२ (आश्रित पार्थक्य)

[Treaty of friendship and Defensive Alliance concluded between the British Government and the Rajah of Oorcha.]

The Rajah Mahendur Bickermajeet Bahader, Raja of Oorcha, one of the Chiefs of Bundelcund, by whom and his ancestors his present

possessions have been held in successive generations during a long course of years without paying tribute or acknowledging vassalage to any other power, having on all occasions manifested a sincere friendship and attachment to the British Govt, and having solicited to be placed under the powerful protection of that Govt, the British Govt, relying on the continuance of that disposition which the Rajah has hitherto manifested towards it, and on his adherence to whatever engagements he may form on the basis of a more intimate union of his interests with those of the Hon'ble Company, has acceded to the Rajahs' request, and the following Articles of a Treaty of friendship and alliance are accordingly by mutual consent concluded between the British Govt and the said Rajah Mahendar Bickermajeet Bahader, his heirs and successors.

ARTICLE 1.

The Rajah Mahendar Bickermajeet Bahader, Rajah of Oorcha, having professed his obedience and attachment to the British Govt, he is admitted henceforwarded among the number of the allies of the British Govt.; accordingly the said Rajah hereby engages to consider the friends of that Govt as his friends & its enemies as his enemies, and to abstain from molesting any Chief or state in alliance or inamity with the British Govt; and considering all persons who may he disaffected to that Govt. as his own enemies, he further engages to afford no protection to such persons or their families in his country, to hold no intercourse or correspondonce of any nature with them, but on the contrary, to use every means

in his power to seize and deliver them up to the Officers of the British Govt.

ARTICLE II.

The territory which from ancient times has descended to Raja Mahendar Bickermajeet Bahader by inheritance, and is now in his possession, is hereby guaranteed to the said Rajah and to his heirs and successors, and they shall never be molested in the enjoyment of the said territory by the British Govt nor any of its allies or dependents, nor shall any tribute be demanded from him or them. The British Govt., moreover, engages to protect and defend the dominions at present in Rajah Mahendar Bickermajeet Bahader's possession from the aggressions of any foreign power.

ARTICLE III.

The British Govt., havig by the terms of the foregoing Article, engaged to protect the territories at present possessed by the Rajah of Oorcha from the aggression of any foreign power, it is hereby agreed between the contracting parties that, whenever the Rajah shall have reason to apprehend design on the part of any foreign power to invade his territories, whether in conseqvence of any disputed claim or on any other ground, he shall report the cicumstances of the case to the British Govt., which will interpose its mediation for the adjustment of such disputed claim, and the Rajah, relying on the justice and equity of the British Govt, agrees implicitly to abide by its award. If the apprehended aggression shall be referable to any other cause, the British

Govt. will endeavour, by representation and remonstrance, to avert the design; and if, in the former case, notwithstanding the Rajah's acquiescence in the award of the British Govt., the other power shall persist in its hostile designs, and if, in the latter case, the endeavours of the Brsitish Govt., shall fail of success, such measures will be adopted for the protection of the Rajah's territories as the circumstances of the case may appear to require.

ARTICLE IV.

If at any time the Rajah of Oorcha shall have any claim or cause of complaint against any of the Rajahs or Chiefs allied to or dependent on the British Government, the Rajah engages to refer the case to the arbitration and decision of that Govt., and to abide by its award, and on no account to commit aggression against the other party, or to employ his own force for the satisfaction of such claim, or for the redress of the grievance of which he may complain. On the other hand, the British Govt. engages to withold its allies or dependents from committing any aggression against the Rajah of Oorcha, or to punish the aggressor and to arbitrate any demand they may have upon the Rajah of Oorcha according to the strict principles of justice, the Rajah on his part agreeing implicitly to abide by its award.

ARTICLE V.

The Rajah of Oorcha engages at all times to employ his utmost exertions in defending the roads and passes of his country against any enemies

or predatory bodies who may attempt to penetrate through it into the territories of the Hon'ble Company.

ARTICLE VI.

Whenever the British Government may have occasion to send its troops through the dominion of the Rajah of Oorcha, or to station a British force within his territories, it shall be competent to the British Government so to detach or to station its troops, and the Rajah of Oorcha shall give his consent accordingly. The Commander of the British troops which may thus eventually pass through or temporarily occupy a position within the Rajah's territories, shall not in any manner interfere in the internal concerns of the Rajah's Govt. Whatever materials or supplies may he required for the use of the British troops during their continuance in the Rajah's territories shall be readily furnished by the Rajash's Officers and subjects, and shall be paid for at the price current of the bazar.

ARTICLE VII.

The Rajah engages never to entertain in his service any British subject cr Europeans of any nation or description whatever, without the consent of the British Govt.

ARTICLE VIII.

This Treaty, consisting of eight Articles, having this day been concluded between the British

Government and the Rajah Mahendar Bickarmajeet Bahader, the Rajah of Oorcha, through the agency of John Wanchope Esq., in virtue of the powers delegated to him by the Rt. Hon'ble the Governor-General in Council on the one part, and Lalla Dhakun Lall, the vakeel of the said Rajah on the other, Mr. John Wanchope has delivered to the said vakeel one copy of the Treaty in English, Persian and Hindooi, signed and sealed by himself and the said vakeel has delivered to Mr. John Wanchope another copy duly executed by the Rajah, and Mr. John Wanchope engages to procure and deliver to the said Vakeel, within the space of thirty days, a copy ratified by the seal of the Company and the signature of the Governor-General in Council on the delivery of which the copy executed by Mr. John Wanchope shall be returned and the Treaty shall be considered from that time to have full force and effect.

Signed, sealed exchanged at Banda, in Bundelcund, on the Twenty-third day of December 1812, corresponding with the Sixth day of Poos 1220 Fuslee.

भावार्थ ।

ओर्छा नरेश, राजा महेन्द्र विक्रमादित्य बहादुर, जो कि बुन्देलखण्ड के रईसों में से हैं और जिनके पूर्वजों ने अपने राज्य पर कई पीढ़ियों तक स्वतन्त्र शासन किया है, ब्रिटिश गवर्नमेंट के सदैव हितेच्छु रहे हैं और अब उसके प्रबल आश्रय में आया चाहते हैं; ब्रिटिश गवर्नमेंट को भी

यह विश्वास है कि उनका यह सौहार्द स्थिर है और वह अपने और अपने वंशजों की ओर से जो कुछ वचन देंगे उसका पालन करेंगे इस लिये वह उनकी प्रार्थना स्वीकार करती है। अतः बृटिश गवर्नमेंट और उक्त राजा साहब के बीच में उभय पक्ष की स्वीकृति से संधि की निम्न धाराएँ निश्चित होती हैं।

प्रथम धारा।

ओर्छा नरेश ने बृटिश गवर्नमेंट के प्रति अपनी आज्ञाकारिता प्रकट की है अतः वह अब से उसके मित्रों की कोटि में लिए जाते हैं। इस लिये, उक्त राजा उसके मित्रों को अपना मित्र और उसके शत्रुओं को अपना शत्रु समझेंगे और किसी ऐसे राष्ट्र या रईस को न छेड़ेंगे जो बृटिश गवर्नमेंट का मित्र हो। ओर्छा नरेश किसी ऐसे व्यक्ति या उसके घर वालों को आश्रय न देंगे जो ब्रिटिश गवर्नमेंट का द्रोही हो प्रत्युत यथाशक्य उनको पकड़ कर उसे गवर्नमेंट के कर्म्मचारियों को सौंप देंगे।

द्वितीय धारा।

जो राज्य कि राजा महेन्द्र विक्रमादित्य बहादुर को अपने पूर्वजों से मिला है वह सदा उनका ही रहेगा और उनको या उनके वंशजों और उत्तराधिकारियों को इसके भोगने में बृटिश गवर्नमेंट कभी न छेड़ेगी और न किसी प्रकार का कर लेगी। बृटिश गवर्नमेंट इस राज्य की विदेशी शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा भी करेगी।

तृतीय धारा।

क्योंकि बृटिश गवर्नमेंट ने इस राज्य की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है, इस लिये जब ओर्छा नरेश को

ऐसी आशङ्का होगी कि कोई पर-राष्ट्र, अपने किसी हक़ की पूर्ति के लिये या अन्य उद्देश से, उन पर आक्रमण करने वाला है तब वह ब्रिटिश गवर्नमेंट को सूचना देंगे। उस समय वह गवर्नमेंट बीच में पड़ कर उस हक़ का निर्णय करने का प्रयत्न करेगी और ओर्छा नरेश उसके न्याय पर विश्वास कर के उसके निर्णय को मान लेंगे। पर यदि वह राष्ट्र ब्रिटिश गवर्नमेंट के न्याय को न माने या वह किसी और उद्देश से आक्रमण करने वाला हो और समझाने से न माने तो राज्य के लिये जो प्रयत्न समयोचित होंगे उनका अवलम्बन ब्रिटिश गवर्नमेंट करेगी।

चतुर्थ धारा।

यदि ओर्छानरेश को ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के मित्र राष्ट्रों में से किसी पर कोई हक़ होगा तो वह स्वतः उसके विरुद्ध कोई कार्य्यवाही न करके ब्रिटिश गवर्नमेंट को सूचना देंगे और सदा उसके निर्णय को मानेंगे; ब्रिटिश गवर्नमेण्ट भी अपने मित्रों और आश्रितों को ओर्छानरेश के विरुद्ध कार्य्यवाही से रोकेगी और उनके झगड़ों में स्वयं मध्यस्थ बन कर न्यायतः विचार करेगी।

पञ्चम धारा।

ओर्छानरेश अपने राज्य की सड़कों और घाटियों को यथाशक्य शत्रुओं और डाकुओं से साफ़ रक्खेंगे और उनको कम्पनी के राज्य में न घुसने देंगे।

षष्ठ धारा।

जब कभी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को ओर्छानरेश के राज्य में से अपने सिपाहियों को भेजने की या उनको उस राज्य

में ही कुछ दिनों तक रखने की आवश्यकता होगी तब उसे ऐसा करने का अधिकार होगा और ओर्छानरेश अपनी सम्मति दे देंगे। उक्त सिपाहियों के सेनापति को ओर्छा राज्य के भीतरी शासन में बाधा डालने का कोई अधिकार न होगा। सिपाहियों के लिये जिस सामग्री की आवश्यकता होगी वह राजा के कर्म्मचारी एकत्र करेंगे और बाज़ार-भाव से उनका मूल्य दिया जायगा।

सप्तम धारा।

बिना ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की स्वीकृति के राजा अपने यहां किसी प्रकार के यूरोपियन को नौकर न रक्खेंगे।

अष्टम धारा।

गवर्नर-जनरल से अधिकार प्राप्त हुए मिस्टर जॉन वोशप और राजा के वकील लाला ढाकनलाल के द्वारा आज ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और राजा महेन्द्र विक्रमादित्य बहादुर के बीच में आठ धाराओं की यह सन्धि निश्चित हुई। अपनी मुहर और हस्ताक्षर करके मि० जान वोशप ने इसकी एक प्रति अंग्रेज़ी, फ़ारसी और हिन्दी में वकील को देदी है और उक्त वकील ने राजा के हस्ताक्षर और मुहर से पुष्ट की हुई एक प्रति मि० वोशप को देदी है। मिस्टर वोशप गवर्नर-जनरल की मुहर व हस्ताक्षर से पुष्ट एक प्रति महीने भर के भीतर वकील को दे देंगे और अपने हस्ताक्षर व मुहर वाली प्रति वापस ले लेंगे। उसी दिन से यह सन्धि प्रचलित मानी जायगी।

बुन्देलखण्डान्तर्गत बांदा में लिखी गई। २३ दिसम्बर १८१२, तदनुसार ६ पूस १२२० फ़सली।

(ग) ब्रिटिश गवर्नमेन्ट और मैसूर—१८८१
(आश्रित सहकारिता)

वस्तुतः इस काल का कोई सन्धिपत्र है ही नहीं क्योंकि कोई ऐसा राष्ट्र ही नहीं बचा था जो संधि के योग्य होता। परन्तु इस बीच में मैसूर का राज्य जो गवर्नमेण्ट के हाथ में ज़ब्त सा ही था महाराज चमराजेन्द्र बड़ेर बहादुर के १८ वर्ष के होने पर उनको दिया गया। उस समय जो २ शर्तें की गईं वह सभी विचारणीय हैं पर यहां उदाहरणार्थ उनमें से कुछ दी जाती हैं:—

5. The British Govt. having undertaken to defend and protect the said territories against all external enemies......................,there shall be paid an annual sum of Government rupees thirty five lakhs..................

20. No material change in the system of administration, as established when the Maharaja Chamarajendra wadiar Bahadur is placed in possession of the territories, shall be made without the consent of the Governor-General in Council.

22. The Maharaja of Mysore shall at all times confirm to such advice as the Governor-General in Council may offer him with a view to the management of his finances, the settlement and collection of his revenues, the imposition of taxes, the administration of justice, the encouragement of trade, agriculture —and industy, and any other objects connected with the advancement of H. H's interests, the

happiness of his subjects, and his relations to the British Govt.

23. In the event of the breach or non-observance by the Maharaja of Mysore of any of the foregoing conditions, the Governor-General in Council may resume possession of the said territories and assume the direct administration thereof, or make such other arrangements as he may think necessary to provide adequately for the good government of the people of Mysore or for the security of British rights and interests within the province.

भावार्थ।

५—क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इस राज्य की रक्षा का भार लिया है। इस लिये उसको प्रतिवर्ष ३५ लाख सर्कारी रुपये दिए जायँगे (मैसूर के कोष से)।

२०—महाराज चमराजेन्द्र वड़ेर बहादुर को राज्य मिलते समय जो शासन-पद्धति थी उसमें बिना गवर्नर जनरल की स्वीकृति के कोई प्रधान परिवर्तन न किया जायगा।

२२—कोष-प्रबन्ध, कर लगाना, न्याय-प्रबन्ध, व्यापारादि की समुन्नति इत्यादि विषयों में गवर्नर-जनरल जो कुछ परामर्श देंगे उसका महाराजा मैसूर पालन करेंगे।

२३—यदि किसी समय महाराजा मैसूर इनमें से किसी नियम का पालन न करें, तो गवर्नर-जनरल को अधिकार होगा कि वह उक्त प्रदेश को ब्रिटिश शासन में मिला लें या अन्य उचित प्रबन्ध करें।

(२) सनद ।

ऊपर सनद वाली रियासतों का कथन आ चुका है। यहां सनद और संधिपत्र में अन्तर दिखलाने के लिये हम एक सनद भी उदाहरणार्थ दिए देते हैं। यह सनद १८११ में चरखारी नरेश को दी गई थी। सनदों में भी कई भेद हैं पर वे सभी ऊपर दिए हुए मैसूर के पत्र से कई अंशों में मिलते हैं। हम नीचे की सनद के केवल आदि और अन्त के भाग देते हैं। शेष अनावश्यक हैं।

"Be it known to the chowdries, kanoongoes etc. of the pergunnahs of Raath and Sewndah and Katolla, etc. in the province of Bundelcund; that whereas the Rajah Beker Majeet Bejy Bahhdur, one of the ancient and hereditary Chiefs of Bundelcund, on the annexation of the province of Bundelcund to the dominions of the British Govt., was the first of the Boondelah Chiefs who submitted and acknowledged the authority of that Govt., and during the Agency of Captain John Baillie, the former Agent to the Governor-General, delivered an Ikrarnamah (or obligation of allegiance) to the British Govt.......

....

......Therefore the villages and lands enumerated in the Sub-joined schedule are granted to the said Rajah and his heirs with all their rights and usages, their land revenue and sayer, forts and fortifications, exempt from the payment of revenue to the British Govt. So long as the said Rajah and his heirs and successors shall observe and remain faithful to the several Articles of the Ikrarnamah that he has delivered in, no molestation or resumption of the

possessions hereby granted shall take place on the part of the British Govt. It is necessary that you all consider and account the said Rajah the Lord and Proprietor of the possessions in question, and the conduct that is incumbent on the said Rajah, is to exert himself to the utmost to increase the cultivation, and to improve his possessions by promoting the prosperity and comfort of the inhabitants, and to enjoy the produce of his good governance in obedience and loyal attachment to the British Govt."

भावार्थ।

बुन्देलखण्ड प्रान्त के राठ, सेउँदा, कटोला आदि परगनों के चौधरियों, क़ानूनगोओं इत्यादि को विदित हो कि चूँकि राजा विक्रमादित्य बिजय बहादुर ने, जो बुन्देलखण्ड के एक पुराने और पैत्रिक रईस हैं, जब बुन्देलखण्ड ब्रिटिश गवर्नमेंट के हाथ में आया तब सबसे पहिले उसके अधिकार को स्वीकार किया और पहिले एजेण्ट कप्तान जान बेली के समय में एक इक़रारनामा (या अपनी ब्रिटिश गवर्नमेंट प्रति अधीनता का स्वीकार पत्र) भी लिखा.........................
इसलिये जिन गांवों के नाम साथ की तालिका में लिखे हुए हैं वे सब सारे अधिकारों के साथ उपर्युक्त राजा और उनके उत्तराधिकारियों को दिए जाते हैं। इनकी मालगुज़ारी और सायर, क़िले और गढ़ियां सब राजा की हैं और इनके लिये ब्रिटिश गवर्नमेंट कभी कोई कर न लेगी। जब तक कि राजा और उनके उत्तराधिकारी अपने इक़रारनामे की शर्तों को न्यायतः पालन करेंगे, ब्रिटिश गवर्नमेंट उनको न छेड़ेगी और न यह

राज्य मिला लेगी। इस लिये यह आवश्यक है कि तुम सब उक्त राजा को इस प्रान्त का स्वामी समझो और राजा का यह कर्तव्य है कि कृषि की वृद्धि करें और अपनी प्रजा की उन्नति में तत्पर रहें और ब्रिटिश गवर्नमेंट के आज्ञावर्ती बने रह कर अपने सुशासन के फल का उपयोग करें।

(३) सलामी।

देशी नरेशों के प्रतिष्ठा-सूचक लिङ्गों में सलामियां भी हैं। भिन्न २ नरेशों की भिन्न २ सलामियाँ हैं और जिसकी जितनी सलामी है उसकी वैसी ही प्रतिष्ठा है। सलामी की संख्या किसी राष्ट्र की आमदनी या जन-संख्या पर निर्भर नहीं है, प्रत्युत उस राष्ट्र के इतिहास पर प्रत्येक राष्ट्र की सलामी नियत है, पर गवर्नमेंट इसमें परिवर्तन कर सकती है। किसी २ नरेश को, या अन्य व्यक्ति को, उसके जन्म भर के लिये कोई विशेष सलामी मिल जाती है। भारत में सब से बड़ी सलामी, १०१ तोपों की, सम्राट को है और इससे उतर कर, ३१ तोपों की, वाइसराय को। देशी नरेशों को क्रमशः २१,१९,१७,१५,१३,११, और ९ तोपों की सलामियां हैं। ११ और उससे अधिक सलामी वाले हिज़ हाइनेस कहलाते हैं। इनकी यह विशेष प्रतिष्ठा है कि जब यह वाइसराय से मिलने जाते हैं, तब उनको भी बदले में इनसे मिलने आना पड़ता है। निज़ाम हैदराबाद 'हिज़ एक्सालटेट हाइनेस' कहलाते हैं।

(४) नैपाल।

इस देश की जन-संख्या ५२ लाख और वार्षिक आय दो करोड़ के लगभग कही जाती है। इसमें आज कल गुर्खों

का, जो शिशोदिया राजपूत हैं, राज्य है। एक अंग्रेज़ी रेज़िडेण्ट भी रहता है, पर उसकी अवस्था एक अंग्रेज़ लेखक ने 'a half-imprisoned Resident' (एक अर्द्ध-बन्दी रेज़िडेण्ट) की सी कहा है। इस कहने का अभिप्राय केवल यह है कि नैपाल में रेज़िडेण्ट को शासन सम्बन्ध में बोलने का रत्ती भर भी अधिकार नहीं है। वह केवल बृटिश गवर्नमेंट का वकील और राजदूत है। उसे यथेच्छ भ्रमण करने का भी अधिकार नहीं है। नैपाल का एक वकील बृटिश गवर्नमेंट के साथ रहता है।

आज कल नैपाल में प्रायः सारा अधिकार दीवान के हाथ में आ गया है। यह प्रथा राणा जङ्गबहादुर के समय से निकली। उनको और उनके उत्तराधिकारियों को नैपाल नरेश की ओर से 'महाराज' की पदवी प्राप्त है और वह महाराजा नैपाल के आधिपत्य में स्वयं एक अंतः स्वतन्त्र नरेश हैं। यह भी वाइसराय की भांति 'हिज़ एक्सेलेन्सी' कहलाते हैं। दिल्ली दर्बार आदि के अवसर पर भी नैपाल के दीवान ही आते हैं और वह भी अतिथि रूप से, आश्रित रूप से नहीं। नैपाल की सेना में लगभग ५०,००० सिपाही हैं और प्रधान सेनापति भी दीवान के ही सम्बन्धी होते हैं। अपने काम के लिये नैपाल अपनी तोपें आपही ढाल लेता है।

नैपाल और बृटिश गवर्नमेंट के बीच में प्रधान संधि-पत्र वही है जो युद्ध के पीछे, सिगौली के मैदान में, १८१५ में लिखा गया। यह वैसा ही है जैसा कि बराबर के राष्ट्रों में प्रायः होता है। १८५५ में एक दूसरी संधि हुई वह भी बरा-

बरी की है। और तब से इस समय तक दोनों राष्ट्रों (अर्थात नैपाल और बृिटिश गवर्नमेंट) का परस्पर व्यवहार अत्यन्त मैत्री का रहा है। सन् १८५७ के विद्रोह के समय बृिटिश गवर्नमेंट के सहायतार्थ सेना आई थी—इसके पारितोषक में, कुछ भूमि जो युद्ध के समय बृिटिश राज्य में मिला ली गई थी फिर नैपाल को लौटा दी गई। उन्हीं दिनों में नैपाल सर्कार ने एक बड़ी उदारता का काम किया था। पञ्जाब की महारानी को बृिटिश गवर्नमेंट ने चुनार के क़िले में बन्द कर रक्खा था। वह वहां से किसी युक्ति से भाग कर नैपाल पहुँचीं। बृिटिश गवर्मेंट ने उनको वापस मांगा, पर नैपाल सर्कार ने न दिया और उनके लिये समुचित प्रबन्ध कर दिया।

१८५४ में नैपाल और तिब्बत से लड़ाई हो गई। अन्त में चैत्र बदी ३ सम्वत् १९१२ (२४ मार्च १८५६) को सन्धि हुई। इसके अनुसार तिबत सर्कार ने नैपाल को प्रतिवर्ष १०,००० रुपया देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त प्रति पांचवें वर्ष नैपाल से चीन की राजधानी पेकिंग को कुछ भेंट जाया करती थी पर अब बहुत दिनों से यह प्रथा बन्द है।

बर्तमान यूरोपीय युद्ध में भी नैपाल सर्कार ने ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की बड़ी सहायता की है और ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की पल्टनों में सहस्रों गोर्खे लड़ रहे हैं।

नैपाल के शासन-क्रम के विषय में इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि वहाँ नरेश (या उनके नाम से दीवान) पूर्णतया स्वेच्छाचारी हैं—प्रजा का उनके ऊपर कोई नियत या नियमित दबाव नहीं है

(५) देशी नरेशों की शिक्षा।

देशी नरेशों की शिक्षा के लिये ४ प्रधान शिक्षालय खुले हुए हैं (१)—मेयो कालेज, अजमेर; डेली कालेज, इन्दौर; राजकुमार कालेज, राजकोट; और एचिसन कालेज, लाहौर। इनको गवर्न्मेंएट क्रमात् ५०,०००; ५०,०००; २५,००० और २५,००० रुपया साल देती है। दिल्ली में एक सर्वोपरि कालेज खोलने का प्रस्ताव हो रहा है, पर वर्तमान युद्ध के कारण स्थगित हो गया है। इन में कई अंग्रेज़ और भारतीय अध्यापक होते हैं और इनके लिये गवर्न्मेंएट ने डिप्लोमा और पोस्ट डिप्लोमा नाम की दो परीक्षाएं नियत की हैं। अच्छा तो यह होता कि देशी नरेशों के लड़के साधारण लड़कों के साथ साधारण विद्यालयों में पढ़ते पर यदि किसी कारण से अभी वैसा नहीं हो सकता तो यह चार कालेज भी अच्छे ही हैं। यहां साधारण पढ़ाई के साथ २ खेलों पर बहुत ध्यान दिया जाता है और धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है। इस सम्बन्ध में हमारे कई पाठकों को यह सुन कर आश्चर्य्य होगा कि एक भारतीय सज्जन, जिन के ऊपर गवर्नमेन्ट की भी बड़ी कृपा दृष्टि है, सर प्रभाशंकर पट्टनी ने यह अनुमति दी थी कि इन कालेजों में सब शिक्षक अंग्रेज़ हों और कुछ काल तक इन लड़कों को भारतीय समागम से यथाशक्य सुरक्षित रक्खा जाय, तब इनकी शिक्षा परिपक्क होगी! अस्तु, कई लोगों की यह सम्मति है कि इनकी शिक्षा प्रणाली पर्याप्त और समुचित नहीं हैं। ये लड़के उस प्रवाह से एक मात्र अलग रक्खे जाते हैं जो सारे भारत को सञ्चालित कर रहा है, इनको सभी प्रश्नों पर अंग्रेज़ी आँखों से देखना होता है, इसका परिणाम यह होगा कि जब एक दिन इनको उस

प्रवाह का यकायक सामना करना होगा तो तदनुकूल कार्य न कर सकेंगे और धोखा खायंगे। स्वयं देशी नरेशों को और ब्रिटिश भारत की जनता को जिसके कोष से प्रतिवर्ष १५०,००० रुपया इस काम में व्यय होता है इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(६) मिसेज़ एनी बेसेण्ट और देशी राष्ट्र।

मैं ऊपर अपनी सम्मति उस सम्बन्ध के विषय में बतला चुका हूं जो कि देशी राष्ट्रों और ब्रिटिश भारत में होना चाहिए। यहाँ मैं दो वाक्य उस वक्तृता से उद्धृत करके देता हूं जो ३२वीं कांग्रेस की सभापति मिसेज़ एनी बेसेण्ट ने २६ दिसम्बर १९१७ को कलकत्ते में दी थी। ये वाक्य भी मेरे ही पक्ष का समर्थन करते हैं।

"The place of the Indian states will have to be considered by the United kingdom in the light of the treaties existing between the Paramount Power and the Princes. So far as British India is concerned, we have to see that no arrangement is come to affecting it which admits to any voice in our councils any prince who retains absolute power within his own state or who is not ruling on lines similar to those adopted within British India. Nor must any have authority in British India which is not also possessed over his state by British India."

अर्थात्, "नरेशों और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के बीच में जो सन्धियां हैं उनकी दृष्टि से ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को उनका स्थान निश्चित करना होगा। हम ब्रिटिश भारतवासियों को इतना ही देखना है कि किसी ऐसे नरेश को जो अपने राज्य में स्वेच्छाचारी है या उन सिद्धान्तों के अनुकूल शासन नहीं करता जो

ब्रिटिश भारत में प्रचलित हैं, उन्हें हमारे सम्बन्ध में बोलने का अधिकार न मिले और न किसी को ब्रिटिश भारत में वह अधिकार होने चाहिए जो ब्रिटिश भारत को उसके राज्य में न हों।"

(७) टिपू सुल्तान।

कई ऐतिहासिकों ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि टिपू बड़ा ही दुष्ट और अत्याचारी पुरुष था। इस सम्बन्ध में मेजर जनरल सर जान मैलकम लिखित 'दि पोलिटिकल हिस्ट्री आव इण्डिया' भाग २ (१८२६ में प्रकाशित) में दिए हुए सर जान शोर के १८ फरवरी १७६५ के मिनिट के ये वाक्य विचारणीय हैं :—

"We know by experience his (Tippu's) abilities—he has confidants and advisers, but no ministers and inspects, superintends and regulates himself all the details of his Governmen—he manitains dignity without ostentation-the peasantry of his dominions a e protected, and their labours encouraged and rewarded. Before the late war, reports were continually propagated of his cruelty and tyranny with respect to his subjects in Malabar-they were not ill-founded, but that they were greatly exaggerated may be established by one consideration, that, during the contest with him, no person of character rank or influence, in his hereditory dominions deserted his cause."

"उनकी (अर्थात् टिपू को) योग्यता का हम को (अर्थात् अंग्रेज़ों को) अनुभव होगया है-उस के पास विश्वासपात्र

और परामर्श देने वाले हैं पर मन्त्री एक भी नहीं है और वह अपने शासन के समस्त ब्योरे का निरीक्षण और नियंत्रण स्वयं करते हैं। वह बिना बाहरी दिखावे के अपने गौरव को सँभालते हैं और उनके राज्य के कृषकों की रक्षा होती है और उनका परिश्रम प्रोत्साहित और पुरस्कृत होता है। गत युद्ध के पहिले टिपू की प्रजा, विशेषतः मलाबारी प्रजा के प्रति क्रूरता और अत्याचार के समाचार बहुत फैल रहे थे—यह निर्मूल नहीं थे पर इनके अत्युक्तिपूर्ण होने का यही पर्य्याप्त प्रमाण है कि युद्ध के काल में उनके पैत्रिक राज्य से एक भी प्रतिष्ठित, सुशील या प्रभावशाली व्यक्ति उनका पक्ष परित्याग करके हम से आकर न मिला।"

अभी थोड़े ही दिन हुए श्री शङ्कराचर्य्य जी के शृङ्गेरी मठ के कई ताम्रपत्र और अन्य ऐतिहासिक पत्र प्रकाशित हुए हैं। उन से प्रतीत होता है कि टिपू उक्त मठ की प्रत्येक प्रकार से सहायता करता था और तत्कालीन मठाधीश से विजय के लिये आशीर्वाद माँगता था। ऐसे मनुष्य को अत्याचारी और हिन्दुओं का शत्रु बताना सत्य का खून करना है।

(८) देशी रियासतों की तालिका।

नीचे उन राज्यों की एक तालिका दी जाती है जिनको सलामियां प्राप्त हैं। जहां तक हो सका है इस में सब प्रामाणिक ही बातें लिखी गई हैं पर कई बातें, जैसे सब रियासतों की वार्षिक आय, निश्चित रूप से नहीं कही जा सकतीं

अन्तिम परिशिष्ठ।

२१ तोपों की सलामी।

निज़ाम हैदराबाद, गायकवाड़ बड़ौदा, महाराणा उदयपुर, महाराजा मैसूर, महाराजा जयपुर, महाराजा ट्रावणकोर, महाराजा गवालियर।

१६ तोप।

बेगम भोपाल, महाराजा इन्दौर, महाराजा काश्मीर, महाराजा कोल्हापूर।

१७ तोप।

नव्वाब बहावलपूर, महाराजा भरतपूर, महाराजा बीकानेर, महाराव राजा बूंदी, राजा कोचीन, महाराजा करौली, महाराव कोटा, महाराव कच्छ, महाराजा जोधपूर महाराजा पटियाला, महाराजा रीवाँ, नव्वाब टौंक।

१५ तोप।

महाराजा अलवर, महारावल बाँसवाड़ा, महाराजा दतिया महाराजा देवास (बड़ा), महाराजा देवास (छोटा), महाराजा धार, महाराज राणा धौलपूर. महारावल डूंगर-पूर, महाराजा ईडर, महारावल जैसलमेर, महाराजराणा झालावाड़, महाराजा किशनगढ़ राजा नाभा, महाराजा ओरछा, महारावल परतापगढ़, महाराजा शिकिम, महाराव सिरोही,

१३ तोप।

महाराजा बनारस, राजा रतलाम, महाराजा राजेन्द्र बहादुर झींद, महाराजा कपूरथला, नव्वाब जावरा,

महाराजा कूच बिहार, नव्वाब रामपूर, नव्वाब जूनागढ़, राजा त्रिपुरा (टिपरा), महाराजा नवानगर, महाराजा भाव-नगर, महाराजा पोरबन्दर, महाराजा धूांग्धा।

११ तोप।

महाराजा अजयगढ़, नव्वाब बावनी, नव्वाब कैम्बे, राजा चम्बा, महाराजा चरखारी, राजा छत्रपूर, राजा फ़रीदकोट, ठाकुर साहब गोंडल, राजा फ़रीदकोट, नव्वाब जंजीरा राजा झाबुआ, राजा कहलूर, राजा मण्डी, राजा मणिपूर, ठाकुर साहब मोर्वी, राजा नरसिंहगढ़, महाराजा बिजावर, नव्वाब पालनपूर, मराराजा पन्ना, राजा पद्दुकोटाइ, नव्वाब राधनपूर, राजा राजगढ़, राजा राज-पीपला, राजा सैलाना, राजा समथर, महाराजा सिरमूर, राजा सीतामऊ, राजा सुकेत, राजा टेहरी (गढ़वाल)।

९ तोप।

राणा अलीराजपूर, नव्वाब बालासिनोर, महारावल बांसदा, राजा बरौंधा, राजा बारिया, राणा बड़वानी, राजा छोटा उदयपूर, महाराणा धर्म्मपूर, ठाकुर साहब धोल, राव खिलचीपूर, ठाकुर साहब लिमड़ी, राणा लूनावाड़ा, राजा मैहर, नव्वाब मालेर कोटला, राजा नागोद, ठाकुर साहब पालिताना, ठाकुर साहब राजकोट, नव्वाब सचीन, सर देसाई सावन्तवाड़ी, राजा सूँठ, ठाकुर साहब वडवान, ठाकुर साहब वाँकानेर, राजा पूंच, राजा कलसिया, राजा मुधोल, राजा सांगली, राजा सोनपूर, महाराजा मयूरभञ्ज, महा-राजा पटना।

कुल संख्या १११

कुछ प्रधान राष्ट्रों का संक्षिप्त विवरण।

[१९१६-१७]

राष्ट्र	विस्तार (वर्गमील)	जन-संख्या	वार्षिक आय
हैदराबाद	८२, ६९८	१३.३७४,६७६	६करोड़ ५ लाख
बड़ौदा	८,१८२	२,०००,०००	१ करोड़ ९१ लाख
मैसूर	२९,४६१	५,७००,०००	२ करोड़ ९३ लाख
काश्मीर	८४,४३२	३,१५८,०००	९३ लाख
ग्वालियर	२५,१३३	३,१००,०००	१॥ करोड़
इन्दौर	९,५०६	१,०००,०००	९० लाख
भोपाल	६.९०२	७३०.३८३	४० ,,
रीवां	१३,०००	१, ५१४.८४३	५३ ,,
उदयपुर	१२.९५३	१. ३००,०००	३५ ,,
जयपुर	१५,५७९	२, ६००,०००	६५ ,,
जोधपुर	३४.९६३	२. ०५७,५५३	८० ,,
बीकानेर	२३. ३११	७००,०००	६० ,,
भरतपुर	१.९८२	६, २६,०००	३८ ,,
कोटा	५.६८४	६३९,०००	४० ,,
अलवर	३,१४१	८००,०००	३२ ,,
त्रावणकोर	७,१२९	३, ५००, ०००	१ करोड़ २८ ,,
कोचीन	१,३६१	९१८,०००	४७ ,,
कोल्हापुर	३,२१७	९००,०००	५७ ,,
कच्छ	७,६१६	५१३,०००	३० ,,
भावनगर	२,८६०	४००, ०००	५० ,,
जूनागढ़	३,२८४	४३४. ०००	३० ,,

राष्ट्र	विस्तार वर्ग मील	जन संख्या	वार्षिक आय	
नवानगर	३,७९१	३४९, ४००	२५	लाख
कूचविहार	१,३०७	६००, ०००	३०	,,
रामपूर	८९२	५३३, ०००	४३	,,
पटियाला	५, ४१२	१, ५००, ०००	९०	,,
बहावलपूर	१५,०००	८००, ०००	२७	,,